ज्ञान से ज्ञायक तक

पण्डित फूलचन्द शास्त्री

आर्थिक सहयोग

श्रीमती शोभनाबेन अश्विनभाई मेहता
एवं
श्री अश्विनभाई सुमनलाल मेहता
मुंबई.

ज्ञान से ज्ञायक तक

लेखक

पण्डित फूलचन्द शास्त्री

प्रकाशक

आध्यात्मिक साधना केन्द्र

उमराला, जि. भावनगर, गुजरात. फोन : +91-2843-235203

Website : www.fulchandshastri.com

E-mail : ask@fulchandshastri.com

प्रथम आवृत्ति : श्रुत पंचमी, वि.स.2069
प्रत : 1000

प्राप्ति स्थान : आध्यात्मिक साधना केन्द्र
उमराला, जि. भावनगर (गुजरात).
फोन : +91-2843-235203
Website : www.fulchandshastri.com
E-mail : ask@fulchandshastri.com

टाईप सेटिंग एवं मुद्रक : मल्टी ग्राफिक्स
18, खोताची वाडी, वर्धमान बिल्डींग, 3रा माला, प्रार्थना समाज,
वी. पी. रोड, मुम्बई-400 004. फोन : 23884222 / 23873222.

मूल्य : दस रुपये

ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचकर
निर्विकल्प आत्मानुभूति को
उपलब्ध समस्त
सम्यग्द्रष्टी ज्ञानी धर्मात्माओं को

सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

आदरणीय विद्वान श्री पण्डित फूलचन्दभाई शास्त्री द्वारा लिखित ज्ञान से ज्ञायक तक कृति प्रकाशित करते हुए आध्यात्मिक साधना केन्द्र परिवार अत्यंत हर्ष का अनुभव करता है। इससे पूर्व भी लेखक की अनेक रचनाओं का प्रकाशन आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला द्वारा विगत अनेक वर्षों से हो रहा है। विश्व की अनेक भाषाओं में प्रकाशित पण्डित श्री फूलचन्दभाई शास्त्री की अनेक कृतियों के माध्यम से देश-विदेशों में वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान का प्रचार होता रहता है।

ज्ञान से ज्ञायक तक कृति का अध्ययन करने वालें सभी साधक जीवों के लिये मंगल भावना भाता हूँ कि वे इस कृति का अध्ययन करके ज्ञान का सदुपयोग करें। जो ज्ञान अनादि काल से जगत को जानने के लिए व्यतीत हो रहा है, उसी ज्ञान का उपयोग निज आत्मा को जानने के लिए करें।

इस कृति के प्रकाशन कार्य में श्रीमती शोभनाबेन अश्विनभाई मेहता का आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। साथ ही उन्हों ने 'ज्ञान से ज्ञायक तक' का विशेष अध्ययन करके इस कृति की प्रस्तावना भी लिखी है। अत: आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला की ओर से मैं उनका भाव सहित आभार व्यक्त करता हूँ।

मल्टी ग्राफीक्स ने ज्ञान से ज्ञायक तक कृति का मुद्रण करके आपके करकमलों तक पहुँचाने में हृदयपूर्वक सहयोग दिया है, अत: आध्यात्मिक साधना केन्द्र परिवार मल्टी ग्राफीक्स एवं श्री मुकेशभाई जैन का भी आभार व्यक्त करता है। साथ ही जिन भी महानुभावों का इस कृति के प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रुप से सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ और भावना भाता हूँ कि वीतराग वाणी का प्रचार-प्रसार सदैव होता रहें।

- धर्मेन्द्रभाई किशोरभाई जैन
उमराला

प्रस्तावना

श्री पण्डित फूलचन्दभाई शास्त्री जैन एवं जैनेत्तर समाज में सुप्रसिद्ध आत्मार्थी विद्वान है। अल्पवय में ही अनेक वर्षों से उन्हों ने मुम्बई सहित देश-विदेशों में अनेकानेक प्रवचन एवं पुस्तकों के माध्यम से जैन तत्त्वज्ञान को जन-जन पहूँचाया है। साथ ही पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की जन्मभूमि उमराला में उनके द्वारा आध्यात्मिक साधना केन्द्र में चल रहा जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार का कार्य बहुत ही प्रशंसनीय और अनुमोदनीय है।

जगत के जीवों को लौकिक ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है, परन्तु ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचने की विधि का अलौकिक ज्ञान प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है। लेखक ने इस पुस्तक में ज्ञान स्वभाव के माध्यम से ज्ञायकभाव तक पहुँचने का उपाय सरल भाषा में समझाने का प्रयत्न किया है। द्रव्य, गुण एवं पर्याय के साथ-साथ ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता, स्व-पर प्रकाशक ज्ञान स्वभाव, पुरुषार्थ का स्वरुप, पर से निरपेक्ष होने की विधि, प्रतिसमय जागृति रखने का उपाय, स्वभाव का भावभासन एवं चिन्तन की प्रक्रिया आदि विषयों को सरल उदाहरण, तर्क एवं युक्तियों के माध्यम से सिद्ध किया है।

पण्डित जी ने इस पुस्तक को संक्षिप्त विषयों में विभाजित करके ज्ञायकभाव का सर्वांग स्वरुप बताया है, जिससे स्वाध्यायीजनों को विषय समझने में सरलता रहेगी। मुझे विश्वास है कि पण्डितजी के द्वारा रचित यह 'ज्ञान से ज्ञायक तक' किताब आत्मार्थी मुमुक्षु जीवों को आत्मसाधना में उपयोगी होगी।

भविष्य में भी श्री फूलचन्दभाई शास्त्री तत्त्वज्ञान का इसी भांति प्रचार करते रहें और स्व-पर के हित के लिए स्वयं को समर्पित करते रहें, ऐसी भावना व्यक्त करती हूँ।

- शोभनाबेन अश्विनभाई मेहता
मुम्बई.

अनुक्रमणिका

1. ज्ञान से ज्ञायक तक **1**
2. अमर होने का उपाय **4**
3. ज्ञान जानता है या आत्मा? **6**
4. ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... **7**
5. राग का ज्ञान और ज्ञान का राग **16**
6. ज्ञेयाकार ज्ञान एवं ज्ञानाकार ज्ञान से पार मात्र ज्ञान **18**
7. पर प्रकाशक एवं स्व प्रकाशक के विकल्प से अतीत आत्मा **21**
8. ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता की अद्भूत चरम सीमा **23**
9. ज्ञान और राग में प्रदेशभेद **26**
10. ज्ञान सदैव निर्मल है **29**
11. ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है **32**
12. ज्ञान ही त्याग है **36**
13. उपयोग कभी नहीं भटकता **37**
14. द्रष्टि एवं ज्ञान **38**
15. होना सुख या दु:ख का कारण नहीं **41**
16. ज्ञान से सुख **43**
17. पर्याय की तुलना द्रव्य के साथ **46**
18. द्रव्य शुद्ध है तो फिर पर्याय अशुद्ध क्यों? **47**
19. एक समय की पर्याय का सामर्थ्य **50**
20. पर्याय अपेक्षा भी सर्वज्ञ और निगोद में समानता **51**
21. द्रव्य को पर्याय की स्पर्शना **53**
22. जीव कर्म के फल को वर्तमान में ही भोगता है **55**
23. नित्य प्रत्यक्ष आत्मा **57**
24. ज्ञायक की अनुभूति के लिए क्या करें? **63**
25. ज्ञान की अनुभूति ही ज्ञायक की अनुभूति **65**
26. ज्ञायक की अनुभूति होते ही... **66**
27. सहज भेदज्ञान **69**
28. अंतर परिणति **73**
29. चैतन्यलोक **74**
30. पर की अपेक्षा और स्व की उपेक्षा **75**
31. परद्रव्य मेरे निकट भी नहीं आता **81**
32. जागृति (नित्यक्रम) **84**
33. भावभासन **89**
34. चिन्तन का विषय **94**
35. चिन्तन करते-करते अनुभव हो गया **97**
36. जो मौन हैं, वे ही मुनि हैं **104**

१. ज्ञान से ज्ञायक तक

वह ज्ञान ही ज्ञान है, जो ज्ञायक की निर्विकल्प अनुभूति तक पहुँचाता है। अंश से अंशी की प्राप्ति एवं गुण से गुणी की प्रतीति तक पहुँचना ही स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मानुभूति है।

यद्यपि मैं द्रव्य स्वभाव से अनादि-अनन्त शुद्ध ज्ञायकभाव हूँ, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा हूँ, एक समय के लिए भी अशुद्ध नहीं हुआ हूँ, तदपि पर्याय में संसार परिभ्रमण एवं दुःख भोग रहा हूँ। शुद्ध होने पर भी संसार परिभ्रमण क्यों? अज्ञानी स्वयं को पर्याय की अशुद्धता के कारण सर्वथा अशुद्ध मानता है, इस मिथ्यात्वरुपी अपराध के फल में वह अनन्त दुःख भोग रहा है।

यदि जीव स्वयं को त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक जानें, मानें और ज्ञायक में ही समा जायें तो पर्याय में भी शुद्ध हो जाता है। जब तक जीव अपने को अशुद्ध एवं हीन जानता और मानता है, तब तक अशुद्ध एवं हीन आचरण नहीं छोडता है। स्वयं को शुद्धस्वरुप अनुभव करने के बाद ज्ञानी का आचरण भी सहज शुद्ध एवं उत्कृष्ट हो जाता है।

जिस ज्ञायकभाव के ध्यान से भगवान महावीर आदि अनन्त केवलज्ञानियों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस ज्ञायकभाव का यथार्थ स्वरुप प्रत्येक साधक के ज्ञान में होना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है। यद्यपि सर्वज्ञ भगवान भी ज्ञायकभाव का सर्वांग स्वरुप समझाने में असमर्थ है, तो अल्पज्ञ में वह सामर्थ्य कहाँ? फिर भी आत्मा का स्वरुप कथंचित् वचनअगोचर होने के साथ-साथ कथंचित् वचनगोचर होने से यहाँ ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचने का उपाय बताया जा रहा है।

ज्ञान ही ज्ञायक तक पहुँचने की दोरी है। जैसे - आपके बच्चे ने आपकी उंगली पकड ली, तो उंगली के साथ आप भी पूर्णरुप से बच्चे की पकड में आ जाते हैं। ऐसे ही ज्ञान पकड में आने पर पूर्ण विज्ञानघन स्वभावी ज्ञायक

भी पकड में आ जाता है। वास्तव में जिस साधक को ज्ञान की अनुभूति होती है, उसे ज्ञायक की अनुभूति नियम से होती है। यहाँ तक कि ज्ञान की अनुभूति एवं ज्ञायक की अनुभूति दोनों भिन्न-भिन्न अनुभूति नहीं है। कथन करने में भेद हो सकता है, परन्तु अनुभूति तो अभेद एकरुप ही होती है।

जिसप्रकार किसी व्यक्ति को फोन करके पूछे कि आपके घर में कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं? मुझे उन वस्तुओं के नाम गिनाईए। तब वह व्यक्ति उत्तर देता है कि मेरे घर में तो अनेकानेक वस्तुएँ हैं। मैं उन समस्त वस्तुओं के नाम नहीं लिखा सकता, परन्तु एक काम कर सकता हूँ। आपको मेरे घर का पता लिखा सकता हूँ। आप मेरे घर का पता लिख लिजिये और इस पते पर पहुँच जाइए, आपको यहाँ रखी हुई समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखाई देगी।

उसीप्रकार शिष्य अत्यन्त विनयपूर्वक सदगुरु के समीप जाकर आत्मा के अनन्त गुणों के वैभव के बारे में पूछता है, तब सदगुरु कहते हैं कि हम आत्मा के अनन्त गुणों को वचन के माध्यम से कह तो नहीं सकते हैं और न ही शब्दों के द्वारा शास्त्रों में लिख सकते हैं, परन्तु आत्मा के ज्ञान स्वभाव का स्वरुप करुणापूर्वक समझाने का प्रयत्न करते हैं। बस, ऐसा ही समझो कि **ज्ञान ही ज्ञायक तक पहुँचने का पता है।**

ज्ञानी कहते हैं कि तुम ज्ञान का अनुसरण करो, अनुभवन करो, जब तुम्हें ज्ञान की अनुभूति होगी, तब तुम समझना कि ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है, ज्ञायक की अनुभूति है। दु:ख की बात तो यह है कि अनादिकाल से अज्ञानी को अब तक पता ही नहीं मिला है। यदि एक बार भी पते का पता चल जाये, तो समझ लो कि आत्मानुभूति प्रकट होकर ही रहेगी।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा में ज्ञान है। **आत्मा में ज्ञान होना, आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान में आत्मा का होना, आत्मा का पुरुषार्थ है अर्थात् ज्ञान पर्याय में आत्मा जाना जायें, वही पुरुषार्थ है। मैं आत्मा सम्पूर्ण विश्व को जानूँ, इसमें मेरी महानता नहीं है या सम्पूर्ण विश्व मुझे जानें, इसमें भी मेरी महानता नहीं है। मैं स्वयं को जानूं और पहिचानूँ, इसी में मेरी महानता है। ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचना ही आत्मा के अनन्त वैभव की उपलब्धि है।**

पारसनाथ भगवान की पूजा में लिखा है, हे पारसनाथ भगवान! इस जगत में ऐसे पारसमणि तो बहुत है, जो लोहे को स्पर्श करे, तो लोहा, सोना बन जाये। परन्तु हे भगवान! ऐसा एक भी पारसमणि नहीं है कि जो लोहे को स्पर्श करे, तो लोहा, पारसमणि बन जाये। **हे भगवान! आप ऐसे पारसमणि हो कि आपका भक्त भी आपके स्पर्श से आपके जैसा हो जाता है।**

उक्त कथन में गूढ़ रहस्य यह है कि आत्मा की पर्याय भी त्रिकाली ध्रुव पारसमणिरुप भगवान आत्मा का आश्रय लेकर स्वयं भगवान बन जाती है। **राग की पर्याय को लोहे की, वीतराग पर्याय को सोने की और त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को पारसमणि की उपमा दी गई है।** भगवान के स्पर्श से अर्थात् अनुभव से राग की पर्याय भी वीतराग पर्याय में परिवर्तित हो जाती है। जिस साधक ने लोहारुप राग पर्याय को हेय, सोनारुप वीतराग पर्याय को उपादेय माना, वही साधक पारसमणिरुप त्रिकाली ज्ञायकभाव को परम उपादेय मानता है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह भी है कि यदि लोहा ही नहीं होता, तो पारसमणि किसे सोना बनाता? अतः वर्तमान पर्याय में राग जानकर निराश होने की जरुरत नहीं है। राग की पर्याय से ही वीतराग पर्यायरुप परिणमन होता है। राग का व्यय, वीतरागता का उत्पाद और ज्ञायकभाव की ध्रुवता का स्वरुप जानने पर ही भगवान आत्मा का सर्वांग स्वरुप समझ में आता है।

जैसे - किसी व्यक्ति ने आपको वचन दिया हो कि वह किसी निर्धारित समय पर आपको मिलेगा। निर्धारित समय बीत जाने पर भी यदि वह आपको मिलने के लिए नहीं आता, तब सोचिए आपको कैसा लगेगा? आपको किसी का इंतिज़ार करना अच्छा नहीं लगता। परन्तु आपको कभी ऐसा लगता है कि आपने भी किसी को बेसब्री से इंतिज़ार कराया है। जितना इंतिज़ार आपने उस व्यक्ति का किया, उससे भी अधिक इंतिज़ार अनादिकाल से ज्ञायक ने ज्ञान पर्याय का किया है। अतः **कभी किसी का भी इंतिज़ार मत करो, इस बात को अच्छी तरह से याद रखो कि ज्ञायक हरपल तुम्हारा इंतिज़ार कर रहा है। ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।**

२. अमर होने का उपाय

अज्ञानी किसी भी घटना के क्षणिकपने में ही नित्यपना स्थापित कर देता है, फल स्वरुप अनन्त कषाय करके आकुलित एवं दु:खी ही होता है। उसे जगत की कोई वस्तु तो क्षणिक लगती है और कोई वस्तु नित्य लगती है। जैसे - पंखा घूम रहा है, अज्ञानी को पंखा तो क्षणिक लगता है, परन्तु छत नित्य लगती है। श्वासोच्छवास तो क्षणिक लगते हैं, परन्तु शरीर नित्य लगता है। जिसप्रकार पंखा नित्य स्थित रहनेवाला नहीं है, उसीप्रकार छत भी नित्य रहने वाली नहीं है, एक दिन तो मिटकर मिट्टी में ही मिलने वाली है। **वास्तव में नित्य लगने वाली वस्तु भी क्षणिक ही होती है, पंखा और छत, श्वासोच्छवास और शरीर आदि पुद्गल की अवस्थायें क्षणिक ही है।**

साधारणत: लोक में शरीर ग्रहण करने को जन्म और शरीर त्याग करने को मरण माना जाता है। परन्तु सूक्ष्म द्रष्टि से विचार करने पर प्रतिपल श्वास का शरीर में जाना ही जन्म है, श्वास का शरीर से बाहर निकल जाना ही मरण है। जन्म के समय बच्चा श्वास अन्दर लेकर जीवन की शुरुआत करता है और बुढापे में अन्तिम श्वास बाहर निकालकर मरता है। पवन का देह में जाना ही जन्म है और पवन का देह से बाहर निकलना ही मरण है। श्वासोच्छवास ही जन्म-मरण है। **जिसप्रकार श्वासोच्छवास क्षणिक है, उसीप्रकार देह भी क्षणिक ही है, अनित्य ही है।**

नदी और सागर में एक बहुत बडा अन्तर यह है कि नदी के दोनों किनारे दिखाई देते है, सागर का एक ही किनारा दिखाई देता है, दूसरा नहीं। हमें भी जन्मरुपी किनारा तो दिखता है, लेकिन मरणरुपी किनारा नहीं दिखता। अत: हम जितना विचार अपने जन्मदिन के सम्बन्ध में करते हैं, उतना मरणदिन के सम्बन्ध में नहीं करते हैं। यही कारण है कि भव को नदी नहीं, बल्कि सागर कहा है, भवसागर कहा है।

मनुष्य भव को क्षणिक जानकर जिस जीव को मरणरुपी किनारे

का विचार आता है, उसे आत्म कल्याण करने की भावना भी उतनी तीव्र गति से प्रबल होने लगती है। जन्म पीछे है और मरण आगे है। जन्म दूर जा रहा है, मरण निकट आ रहा है। अज्ञानी को पीछे मुड़कर देखने की आदत ऐसी हो गई है कि है कि आगे आने वाला मरण दिखाई ही नहीं देता। सच तो यह है कि अज्ञानी मरण को देखना ही नहीं चाहता। यही कारण है लोग स्मशान और कब्रस्तान गांव के बाहर, गाँव से दूर बनाते हैं, जिससे कभी गलती से भी बाजार में आते-जाते मरण नहीं दिखाई दे। कदाचित् वह किसी व्यक्ति का मरण देख भी ले तो भी अपने मरण का एहसास नहीं होता है। अन्तर में तो यही विचार आता है कि मुझे अभी देर है। ऐसे विचार ही उसे प्रमादी बना देते हैं।

बाह्य जगत में अत्यंत व्यस्त अज्ञानी की शरीर की गति से आत्मा के विचारो की गति इतनी तीव्र होती है कि उसे आगामी घटना के ही विचार आते रहते हैं। **अज्ञानी निरंतर भूतकाल के स्मरण एवं भविष्यकाल की कल्पनाओं में उलझता रहता है और व्यर्थ ही दुःखी होता है।** मरण का विचार ही जीव को मरण से प्रभावित नहीं होने देता। जब किसी बच्चे का मरण हो जाता है, तब बहुत दुःख होता है और हम कहते भी हैं कि अरे! हमने सपने भी नहीं सोचा था कि ऐसा होगा। हाँ, हमने भी नहीं सोचा था, इसीलिए यह आश्चर्य, दुःख और शोक हुआ है। **ज्ञानी की श्रद्धा में जगत का अनित्यपना होने से ज्ञानी को जगत की किसी भी घटना प्रभावित नहीं करती।**

जब तक जीव को जगत के सभी क्षणिक पदार्थ क्षणिक नहीं लगते, तब तक नित्य आत्मा का विचार भी नहीं आता, आत्मा की खोज करना तो बहुत दूर की बात है। अतः क्षणिक पदार्थों में से भेद द्रष्टि छोडकर सभी क्षणिक पदार्थो को त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा से भिन्न जानना चाहिए।

कोई भी क्रिया करके वक्त इस बात की जागृति रहनी चाहिए कि यह क्रिया इस समय के लिए ही है, अगले क्षण में यह क्रिया होने वाली नहीं है, अगले क्षण होने वाली क्रिया अगले क्षण के लिए ही है, उसके आगे के क्षण के लिए नहीं। इसप्रकार की विचारधारा से कषायभाव सहज ही मंद होने लगते हैं।

३. ज्ञान जानता है या आत्मा?

यद्यपि ज्ञान का कार्य जानना है, तदपि आत्मा जानता है ऐसा कहा जाता है। आत्मा के अनन्त गुणों में से ज्ञान गुण के अतिरिक्त अन्य किसी भी गुण में जानने की शक्ति नहीं है, अतः ज्ञान ही जानता है। फिर भी ज्ञान स्वयं आत्मा से भिन्न स्वतंत्र होकर जानने का कार्य नहीं करता है। ज्ञान अपना जाननेरुप कार्य आत्मा के समस्त प्रदेशों में व्याप्त होकर ही करता है। अतः जाननेरुप कार्य का कर्ता ज्ञान नहीं बल्कि आत्मा है।

जैसे-आँख का कार्य देखना है, शरीर का अन्य कोई भी अंग देखने का कार्य नहीं करता है। परन्तु आँख स्वयं शरीर से भिन्न स्वतंत्र होकर देखने का कार्य नहीं कर सकती है, अतः देखनेरुप कार्य का कर्ता आँख नहीं बल्कि शरीर है। वहाँ जब देखने की घटना होती है तब ऐसा ही कहा जाता है कि मैंने उसे देखा था। कोई ऐसा नहीं कहता कि मेरी आँख ने उसे देखा था।

जिस प्रकार यदि आँख को शरीर से अलग कर दी जायें तो वह आँख देखने का कार्य नहीं कर सकती, उसी प्रकार ज्ञान को आत्मा से अलग कर दिया जायें तो ज्ञान जानने का कार्य नहीं कर सकता। आँख का शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध है, उसीप्रकार ज्ञान का आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध है। वहाँ अन्तर मात्र इतना ही है कि आंख शरीर के समस्त प्रदेशों पर व्याप्त नहीं है, जबकि ज्ञान आत्मा के समस्त प्रदेशों पर व्याप्त है। गुण एवं गुणी में प्रदेश भेद नहीं होता।

विशेष बात तो यह है कि शरीर के साथ अभेद रहने वाली आँख ही सक्रिय है, शरीर से अलग रहने वाली आँख सक्रिय नहीं है, वह आँख किसी को डराने के लिए ही काम आ सकती है। उसीप्रकार **जिस ज्ञान ने आत्मा की स्पर्शना की है अर्थात् जिस ज्ञान ने आत्मा का अभेद अनुभव किया है, वह ज्ञान ही ज्ञान है, शेष सब अज्ञान है।** आत्मानुभूति रहित मात्र क्षयोपशमज्ञान जगत के भोले जीवों के सामने मानकषाय एवं क्षणिक आनन्द का ही कारण बन सकता है।

४. ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान...

आत्मा में विकल्प की तरंगे उछलती है और ज्ञान की धारा बहती है। राग-द्वेषरुपी विकल्प की उत्पत्ति कर्मोदय के निमित्त से होती है जबकि ज्ञान का परिणमन, किसी परद्रव्य के कारण नहीं होता। ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है। अतः आत्म द्रव्य के सहजपने के समान ज्ञान के परिणमन में भी सहजपना होता है। **विकल्प औदयिक भाव है और मैं परम पारिणामिक भाव हूँ। विकल्प क्षणिक है, मैं नित्य हूँ। विकल्प आकुलतामय एवं दुःखमय है, मैं निराकुल एवं सुखमय हूँ।**

व्यवहार से पंच परमेष्ठी शरण है और निश्चय से निज आत्मा ही शरण है। धन, सम्पति, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, वैद्य-औषधि आदि अशरण ही है। जो शरण है, वही आश्रय लेने योग्य है।

जो पर्याय, जिस द्रव्य पर द्रष्टि करती है, एकत्व करती है, उस पर्याय ने उस द्रव्य का आश्रय लिया ऐसा कहा जाता है। **ज्ञान के विशेष परिणमन में ज्ञान का सामान्य परिणमन जानने में आने पर भी उस काल में विशेष एवं सामान्य का भेद समाप्त हो जाता है।** ज्ञान पर्याय का विशेषपना तब कहा जाता है, जब विशेष पर्याय में प्रति समय भिन्न-भिन्न ज्ञेय ज्ञान में जानने में आये और उन ज्ञेयों के भेद के कारण स्वयं को भेदरुप जाने। **जब ज्ञान स्वभाव पर द्रष्टि जाती है, तब प्रतिसमय एक मात्र ज्ञान ही जानने में आता है। एकरुप सामान्य ज्ञान की अनुभूति से विशेष ज्ञान भी सामान्य ज्ञान हो जाता है, ऐसा कहते हैं।**

वर्तमान में अज्ञानी की द्रष्टि परज्ञेय पर होने से ज्ञेय के कारण उसे ज्ञान में भेद दिखाई देता है, अपने में भेद दिखाई देता है। उपयोग का निज स्वभाव में न रहकर परद्रव्य में जाना, परद्रव्य के भेद के कारण स्वयं को भेदरुप जानना ही अज्ञान है।

ज्ञान पर्याय रुचिपूर्वक किसी भी ज्ञेय को जानने नहीं जाती। श्रद्धा

गुण की पर्याय जिसमें सुख मानती है और चारित्र गुण की पर्याय, जो परिणति है, वह जहां ढलती है, ज्ञान पर्याय भी उसी ज्ञेय को जानती है। यही कारण है कि आत्मज्ञान प्रकट न होने में ज्ञानावरणी कर्म को नहीं, बल्कि दर्शन मोहनीय कर्म को निमित्त कारण कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञायक का स्वरुप जानने पर भी जीव अज्ञानी रह जाता है, क्योंकि परपदार्थ में से सुखबुद्धि छूटे बिना उपयोग पर से हटकर ज्ञायक में स्थिर होता ही नहीं। जीव को अपने क्षयोपशमज्ञान की जगत में होने वाली प्रशंसा किसी परद्रव्य की प्रशंसा लगे, तभी वह ज्ञेय से भिन्न ज्ञायक का आश्रय ले सकता है। **क्षयोपशमज्ञान तो भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय एवं भावेन्द्रिय के विषय को ज्ञेय की श्रेणी में रखा है, वे क्षणिक है और ज्ञायक का स्वरुप इन समस्त ज्ञेयों से भिन्न नित्य है।**

अज्ञानी मानता है कि यदि उपयोग शरीर में तन्मय होगा, तब ही शरीर की क्रिया होगी, उपयोग घर में तन्मय होगा, तब ही घर चलेगा, उपयोग व्यापारादि में तन्मय होगा, तब ही व्यापारादि कार्य होंगे। इसी विपरीत मान्यता के कारण अज्ञानी का उपयोग पर से हटता ही नही है। जब जीव को यह द्रढ श्रद्धान होता है कि उपरोक्त समस्त कार्य निश्चय से अपनी-अपनी योग्यतानुसार और व्यवहार से पुण्य-पाप के उदयानुसार होंगे। उन कार्यो के होने लिए उपयोग का कार्य में जाना निरर्थक ही है, ऐसा मानने पर जीव का उपयोग सहज ही अपने स्वभाव की ओर ढलेगा। **जैसे - पानी जहाँ ढलान होती है, वहीं ढलता है, ऐसे ही उपयोग भी जहाँ रुचि एवं सुखबुद्धि होती है, वहीं ढलता है।** इसी कारण से परद्रव्य से कर्तृत्वबुद्धि छूटते ही उपयोग का परद्रव्य में जाना भी रुकने लगता है।

कोई व्यक्ति भोजन पकाते वक्त, भोजन में नमक डालना भूल जाये, तो उस अज्ञानी को तो ऐसा ही लगता है कि मेरा ध्यान नहीं रहा, इसीलिए भोजन में नमक नहीं डला। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि नमक की तत्समय की योग्यता ही नहीं थी कि उस भोजन में जाये और निमित्त की द्रष्टि से देखा जाये तो भोजन पकाने वाले व्यक्ति के साथ-साथ भोजन करने वाले लोगों का भी कर्म का उदय भी ऐसा ही था कि उनके भोजन

में नमक न हो। **तात्पर्य यह है कि हमें किसी भी घटना के कर्तापने का बोझ अपने सिर पर नहीं उठा लेना चाहिए।**

ज्ञानी बाह्य में अनेक कार्य करते दिखाई देते हैं, परन्तु अंतरंग में तो ज्ञानी को एक मात्र ज्ञान का ही कार्य होता है। ज्ञानी मात्र जानते हैं। ज्ञानी का जानना सहज होता है, क्योंकि ज्ञानी को सहज ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित हो चुका है। अत: जगत के विषय को जानने के काल में भी वे अपने ज्ञान स्वभाव को ही जानते हैं। एक कार्य को छोडकर, दूसरा कार्य करने की इच्छा हो, तो अवश्य आकुलता होती है। **ज्ञानी तो अपना जाननेरुप कार्य छोडकर, दूसरा कोई कार्य करते ही नहीं। वे जानते और मानते हैं कि मैं भगवान आत्मा जानने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता। सिर्फ आज के लिए ही नहीं, अनादि काल से अनन्त काल तक मैं मात्र जानने वाला शुद्ध चैतन्य स्वरुपी ज्ञायक ही हूँ, ऐसी अटल, अचल एवं अमल श्रद्धा का नाम है सम्यग्दर्शन।**

ज्ञानी स्वयं को ज्ञाता-द्रष्टा मानते हैं, इसलिए ज्ञानी को सुख प्रकट होता है। भूतकाल में अज्ञानदशा में ज्ञानी ऐसा मानते थे कि पर का कर्ता मैं ही हूँ, मैं नहीं होता तो यह कार्य कौन करता? ऐसी कर्तृत्वबुद्धि के भारवहन से उन्हें जो दु:ख होता था, ज्ञानदशा प्रकट होने पर भारवहन से मुक्त होने पर सहज सुख का भी अनुभव होता है।

अनन्त केवलज्ञानी अनन्तानन्त पर्याय में जो ज्ञान स्वभावी शुद्धात्मा में स्थिर होने रुप कार्य करते हैं, वह कार्य अज्ञानी एक समय के लिए भी करें तो सम्यग्दर्शनरुपी अपूर्व धर्म प्रकट होता है। जिस जीव को एक समय के लिए भी आत्मानुभूति होती है, उसे निश्चितरुप से अनन्त काल के लिए आत्मानुभूति होगी, होगी और होगी।

शास्त्रों में जहाँ भी ज्ञाता रहने का उपदेश दिया है, वहाँ ऐसा आशय नहीं समझना चाहिए कि वर्तमान में आप कर्ता हो और आज से ज्ञाता रहो। बात ऐसी है कि निगोद से लेकर सिद्ध पर्यंत सभी जीव अनादि-अनन्त ज्ञाता ही है, बस अपने को ज्ञाता मानने पर पर्याय में भी ज्ञाता हो जाते हैं। शास्त्रों में अपने को ज्ञाता मानने वाला ज्ञानी ही ज्ञाता रहता है, ऐसा कहा है। अपने शरीर

के नाम में जैसा तन्मयपना है, ऐसा ही आत्मा के साथ एकत्व होना चाहिए। आत्मा को मात्र जानना नहीं है, बल्कि ऐसे जानना है कि मैं ही ज्ञायक हूँ।

केवलज्ञानी तो लोकालोक को जानते हैं, परन्तु उस रुप जानने को आश्रय लेना नहीं कहा है। क्योंकि भगवान को लोकालोक में एकत्वपना नहीं है, भगवान का एकत्व तो निज भगवान आत्मा के साथ ही है।

जिसप्रकार गेहूँ के जिस दाने ने चक्की के मध्य में स्थित कील का आश्रय लिया है, वह दाना पीसा नहीं जाता। उसीप्रकार एक मात्र ज्ञायक का आश्रय लेने वाला जीव भी राग-द्वेषरुपी संसार चक्र में पीसा नहीं जाता, दु:खी नहीं होता। जिस ज्ञायक का आश्रय लिया, वह ज्ञायक नित्य सत्ता स्वरुप होने से ज्ञायक का आश्रय भी नित्य टिककर ही रहेगा।

आश्रय लेने वाली क्षणिक पर्याय है, मैं आश्रय लेने वाला तत्त्व नहीं, बल्कि जिसका आश्रय लिया जाता है, वह त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक मैं हूँ। द्रव्य के पक्ष से पुरुषार्थ प्रारम्भ होगा, तब ही पर्याय का सम्यक् परिणमन होगा। द्रव्य में से उत्पन्न होने वाली पर्याय स्वद्रव्य को छोडकर परद्रव्य का आश्रय लेती है, तब दु:खी होती है। जब पर्याय, स्वद्रव्य का आश्रय लेती है, तब सुखी होती है। पर्याय सुखी होती है, परन्तु मैं तो त्रिकाल सुखी हूँ। जब पर्याय स्वयं को सुख स्वरुप मानती है, तब वही पर्याय सहज सुखी हो जाती है।

पदार्थ का भाव दो प्रकार से जान सकते हैं। पहला, जिस पदार्थ का भूतकाल में अनुभव किया हो, उस पदार्थ के स्मरण के रुप में होने वाला उस पदार्थ का ज्ञान और दूसरा, जिस पदार्थ का भूतकाल में अनुभव नहीं किया हो, उस पदार्थ के अनुमान से होने वाला उस पदार्थ का ज्ञान। जैसे - नींबु, गुड़, मिर्ची आदि शब्द सुनते ही उन पदार्थो का ज्ञान होता है। **अनुभव किये हुए इन पदार्थो का ज्ञान इतना कठिन नहीं लगता। आत्मा शब्द सुनते ही आत्मा का ज्ञान प्रत्येक जीव को नहीं होता। ज्ञानी के उपदेश को सुनते समय ज्ञानी के मुख से निकलने वाले शब्द के साथ ही उन शब्दों के भावसहित अर्थ को ग्रहण करने पर ही भावभासन होता है।**

पानी शब्द सुनते ही, पानी शब्द पर ध्यान न जाये और पानी नामक

वस्तु पर ध्यान जाये, तब ही पानी का भाव समझ में आता है। ऐसे ही जब ज्ञानी कहे कि वर्तमान में जो भी ज्ञेय, ज्ञान में जानने में आते हैं, आत्मा उन ज्ञेयों का ज्ञाता है। ऐसा सुनते वक्त उन शब्दों को प्रधानता न देकर आत्मा पर द्रष्टि जानी चाहिए, जिसके ज्ञान में ज्ञेय जानने में आते हैं।

पानी तीन प्रकार का होता है। पहला, पानी नामक शब्द। दूसरा, पानी नामक सत्ता स्वरुप वस्तु। तीसरा, पानी को जाननेरुप परिणमित ज्ञान। शब्दनय से पानी नामक शब्द को पानी कहते हैं। अर्थनय से पानी नामक सत्ता स्वरुप वस्तु को पानी कहते हैं। ज्ञाननय से पानी को जाननेरुप परिणमित ज्ञान को पानी कहते हैं।

यदि ज्ञान पानी को जानेगा, तो ज्ञान, पानी को जाननेरुप परिणमित होगा, ऐसे ही यदि ज्ञान आत्मा को जानेगा, तो ज्ञान, आत्मा को जाननेरुप परिणमित होगा। जिसप्रकार आत्मा नामक शब्द द्रष्टि का विषय नहीं है, उसीप्रकार आत्मा को जाननेरुप परिणमित होने वाला ज्ञान भी द्रष्टि का विषय नहीं है। सत्ता स्वरुप आत्मा ही द्रष्टि का विषय है, एकत्व करने योग्य है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो अरुपी है, वह मेरे ज्ञान में जानने में कैसे आ सकता है? ज्ञानी कहते हैं कि ऐसा प्रश्न उन्हीं जीवों को होता है जिनकी मान्यता में इन्द्रियज्ञान ही ज्ञान है। जबतक जीव ऐसा मानता है कि इन्द्रिय से ही ज्ञान हो सकता है, तबतक उस जीव के लिए आत्मा का ज्ञान होना असम्भव है। वर्तमान में भी किसी भी जीव को इन्द्रिय से ज्ञान नहीं होता है, ज्ञान से ही ज्ञान होता है। अतः पुदगल को जाननेरुप ज्ञान का परिणमन और आत्मा को जाननेरुप ज्ञान का परिणमन दोनों ही परिणमन इन्द्रिय एवं ज्ञेय निरपेक्ष है। **ज्ञान ही ज्ञानरुप परिणमित होता है। इन्द्रिय एवं ज्ञेय, ज्ञानरुप परिणमित नहीं होते हैं, इसलिए इन्द्रिय और ज्ञेय से ज्ञान का जाननेरुप कार्य नहीं होता है।**

ज्ञान स्वभाव की ऐसी स्वतंत्रता है कि पुदगल को जानने के लिए भी ज्ञान को इन्द्रियाधीन नहीं होना पडता, तो आत्मा को जानने के लिए ज्ञान को इन्द्रियाधीन होने की क्या आवश्यकता है? **आत्मज्ञान होने में इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है, यह जानकर दुःखी या भयभीत नहीं होना है। ऐसा**

विचार करना चाहिए कि मुझे यह जानकर खुशी हुई कि आत्मानुभूति के लिए मुझे इन्द्रियों की गुलामी करने की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा की अनुभूति होने के पश्चात् पुदगल को जानने के लिए भी इन्द्रियों की जरुरत नहीं पडती है। उक्त कथन का आशय ऐसा नहीं है कि आत्मज्ञान होने के पश्चात् तत्काल ही केवलज्ञान हो जाता है, इसलिए पुदगलों को जानने के लिए इन्द्रियों की जरुरत नहीं है। बात ऐसी है कि **आत्मज्ञान होने बाद ज्ञानी को ऐसी द्रढ प्रतीति होती है कि ज्ञान, ज्ञान से ही होता है, इन्द्रियों से नहीं। इस प्रतीति के बल पर ज्ञानी स्वयं को स्वतंत्र एवं स्वाधीन मानते हैं।**

पानी को जानते समय आँख जाननेरुप परिणमित नहीं होती, अत: पानी को जानने का कर्ता आँख नहीं है। वहाँ आँख तो निमित्त मात्र है, ऐसा भी द्रष्टि में तब ही आता है जब द्रष्टि निमित्त पर जाती है। निमित्त से द्रष्टि हटने पर, यह पानी है ऐसा जाननेरुप परिणमन को द्रष्टि में लेने पर पानी भी द्रष्टि में आता नहीं है, तब तो एक मात्र ज्ञान का ही परिणमन ज्ञान में जानने में आता है।

जब किसी के घर पर भोजन करते जाते हैं, तब वहाँ चांदी की थाली में, सोने की चमच्च से भोजन पर भी यह प्रतीति रहती है कि स्वादिष्ट हलवा ही मेरे पेट में जाने वाला है, थाली और चम्मच नहीं, क्योंकि वे तो साधन मात्र है। उसी प्रकार ज्ञानी को यह प्रतीति होती है कि पानी को जानते वक्त निमित्त होने वाली आँख जाननेरुप परिणमित होने वाली नहीं है, क्योंकि आँख तो साधन मात्र है।

जिसप्रकार इन्द्रियों का ज्ञान में प्रवेश होना असम्भव है, उसीप्रकार ज्ञेयों का ज्ञान में प्रवेश होना भी असम्भव है। भेदज्ञान के अभ्यास के बल से ज्ञानी इन्द्रिय के संयोग में रहते हुए भी इन्द्रियातीत है।

ज्ञानी परज्ञेयों से निरपेक्ष होते हैं, इस कथन का आशय यह है कि ज्ञानी को यह अपेक्षा नहीं होती कि मैं इस ज्ञेय को ही जानूं या मैं इस ज्ञेय को न ही जानूं। क्योंकि किसी ज्ञेय विशेष को जानने का भाव राग है और

किसी ज्ञेय विशेष को नहीं जानने का भाव द्वेष है। दोनों ही प्रकार की इच्छा आत्मा के विभाव है। आत्मा का स्वभाव तो जानना मात्र है। ज्ञानी को तो प्रतिसमय ज्ञान ही जानने में आता है, अत: ज्ञानी निरंतर ज्ञान को ही जानते हैं।

यदि जीव विकल्पों को अशुद्ध जानें, हेय जानें तो सहज ही वह विकल्प का कर्ता नहीं बनेगा। ज्ञानी मानते हैं कि विकल्प को करने वाला भी मैं नहीं हूँ और विकल्प को दूर करने वाला भी मैं नहीं हूँ। विकल्प तो कर्मोदय के कारण होते हैं, मैं भगवान आत्मा मात्र ज्ञाता-द्रष्टा ही हूँ।

अज्ञानी को कुछ विकल्प तो छोडने जैसे लगते हैं, कुछ विकल्प करने जैसे लगते हैं। अज्ञानी को भगवान की भक्ति आदि के विकल्प बाद में छोडने जैसे लगते हैं, परन्तु अभी तो करने जैसे लगते हैं। अज्ञानी विकल्पों में भेद जानकर, किसी विकल्प को हेय और किसी विकल्प को उपादेय मानता है। सत्य तो यह है कि उसे शुभ विकल्पों से भी अधिक अशुभ विकल्पों की रुचि है। ज्ञानी समस्त विकल्पों को हेय मानते हैं और स्वयं को उन विकल्पों से त्रिकाल भिन्न ज्ञायक मानते हैं।

अज्ञानी को उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्प रुचिकर लगते हैं, परन्तु खास बात तो यह है कि अज्ञानी को उत्पन्न होने वाले समस्त विकल्प उसे पकड में नहीं आते हैं। यद्यपि अज्ञानदशा में निरंतर विकल्पों की तरंगे उछलती ही रहती है। उसे जिन विकल्पों की अधिक रुचि होती हैं, वे ही विकल्प पकड में आते हैं और जिन विकल्पों की रुचि नहीं होती है, वे विकल्प पकड में नहीं आते हैं। **जब जीव को समस्त विकल्पों की रुचि छूट जाती है, तब विकल्प की ओर उपयोग जाता भी नहीं। एक मात्र ज्ञायक की रुचि जागृत होने पर समस्त विकल्पों की रुचि टल जाती है।**

जब दूसरों की निंदा नहीं करने का और स्वाध्याय करने का विकल्प होता है, तब अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह कार्य बहुत अच्छा हुआ। अच्छा हुआ इतने समय के लिए स्वाध्याय किया और किसी व्यक्ति की निंदा नहीं की। ज्ञानी कहते हैं कि अशुभ से बचकर शुभ में लगना अच्छा है, परन्तु किसी भी विकल्प में तन्मय नहीं होना, मेरा प्रथम कर्तव्य है। **ज्ञान एवं ध्यान में लीन ज्ञानी-ध्यानी विकल्प में तन्मय नहीं**

होते। विकल्प का लक्षण ही दुःख है। विकल्प साक्षात दुःख स्वरुप होने पर भी अज्ञानी विकल्प में सुख की कल्पना करके मिथ्यात्व नामक घोर पाप का पोषण करता है।

अशुभ विकल्प के फल में तो पाप प्राप्त होता है, साथ ही किसी शुभ विकल्प के फल में भी पाप ही मिलता है। जैसे- किसी व्यक्ति को भगवान की भक्ति करने शुभ विकल्प उठा। शुभ विकल्प के निमित्त से उसे पुण्य का बन्ध भी हुआ। पुण्य के उदय से धन-सम्पति आदि का योग भी मिला। पांच प्रकार के पाप में धन आदि परिग्रह को पाप कहा है या नहीं? **धर्म के फल में मोक्ष मिलता है, धन नामक परिग्रहरुपी पाप नहीं मिलता।** शुभ विकल्प से बंधे हुए कर्मोदय में भी पाप का योग होता है। धन-सम्पति आदि परिग्रह तो साक्षात् पाप है, फिर भले ही वह कालाधन हो या गोराधन हो! दो नम्बर का धन तो दो नम्बर का है ही, साथ-साथ एक नम्बर का धन भी दो नम्बर का ही है। क्योंकि धन पुदगल है, छह द्रव्य में पुदगल दूसरे नम्बर पर है। **एक नम्बर पर तो जीव ही है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है। अतः शुभ में भी नहीं अटकने का उपदेश दिया गया है।**

अहिंसा का उपासक अपरिग्रही होना चाहिए ऐसा नहीं, बल्कि अहिंसा का उपासक अपरिग्रही ही होता है। अहिंसा और अपरिग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू है। परिग्रह ग्रहण करने में हिंसादि पाप गर्भित होने के कारण ही परिग्रह को नरकायु बन्ध का कारण कहा है।

निज आत्मा अनन्त वैभव से परिपूर्ण है, ऐसी अनुभूति के अभाव के कारण अज्ञानी बाह्य भौतिक पदार्थो को प्रधानता देता है। परिग्रह ग्रहण करने में सुखबुद्धि का अर्थ है अपने स्वभाव की परिपूर्णता का अस्वीकार। अपने परिपूर्ण स्वभाव से असंतुष्ट जीव ही परिग्रह के कारण अपने को परिपूर्ण करना चाहता है। जो जीव अपने खाली मानता है, वही अपने को भरना चाहता है। **ज्ञानीजनों को स्वयं के परिपूर्ण स्वभाव का अनुभव होने से वे परिग्रह के ग्रहण या त्याग में कदापि सुख नहीं मानते।**

प्रत्येक जीव को पर की स्मृति में स्व की विस्मृति न हो, इसका

प्रतिपल ध्यान रखना चाहिए। जैसे घर में जहर रखा हो, तो उस पर जहर लिखकर रखते हैं। इसका मूल कारण भी जागृति रहे यही है कि उसका कभी भूल से भी पोषण न हो जाये। ऐसे ही धर में रखे हुए धन पर, भोजन पर, सोना-चांदी-हीरा आदि पर, बर्तन, कपडे, टेलिविजन आदि पदार्थो पर भी पाप लिखकर रखना चाहिए। सिर्फ घर में रखे हुए पदार्थो पर ही नहीं, घर पर भी पाप लिख देना चाहिए, क्योंकि घर में रखी हुई चीजों की तरह घर भी तो परिग्रह ही है, पाप ही है। जो व्यक्ति ऐसा कहता है कि मेरे पास पाप का पैसा है ही नहीं, उसे यह बात जान लेनी चाहिए कि **पैसा पाप का नहीं होता, पैसा तो स्वयं पाप ही है।** परिग्रह पर पाप लिखने का आशय पेन या पेन्सिल से लिखना नहीं समझ़ना चाहिए, बल्कि अपनी द्रष्टि में परिग्रह को पाप जानना, मानना और उनके विकल्पों से मुक्त होकर एक ज्ञायकभाव का आश्रय लेना चाहिए।

कोई ऐसा कहे कि निर्धन व्यक्ति से धनवान व्यक्ति अधिक दु:खी होता है। क्योंकि निर्धन व्यक्ति तो आशा के बल पर जीवित है कि कल उसके पास धन आयेगा और वह सुखी होगा। जबकि दूसरी ओर निर्धन से धनवान होने पर भी, धनवान व्यक्ति को बहुत धन पाकर भी सुख न मिला। धनवान व्यक्ति को तो आशा भी नहीं रही कि जिसके बल पर भविष्य में मिलने वाले सुख की कल्पना भी कर सके। सत्य तो यह है कि निर्धन हो या धनवान हो, विकल्प के कारण दोनों ही व्यक्ति दु:खी ही है। निर्धन व्यक्ति आशा के विकल्प के कारण और धनवान व्यक्ति आशा पूर्ति न होने के विकल्प के कारण दु:खी है। दोनों प्रकार के व्यक्ति की द्रष्टि परपदार्थ पर होने से दोनों अशांति का अनुभव करते है। **त्रिकाली ज्ञायक की निर्विकल्प आत्मानुभूति ही सुखी होने का एक मात्र उपाय है।**

अज्ञानता एवं निमित्ताधीन द्रष्टि के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि पैसे के बिना जीवन नहीं चलता है। जिनकी मान्यता में पैसा ही जीवन है, उन्हें यह बात अच्छी तरह से समझ़ लेनी चाहिए कि क्या पैसे नामक परिग्रहरुपी पाप ही जीवन है? क्या आत्मा पाप से जीवित है? नहीं, पाप के फल में तो जन्म-मरण को प्राप्त होता है, जीवन को नहीं। **प्रत्येक जीव अपनी जीवत्व शक्ति के कारण ही जीवित है।**

५. राग का ज्ञान और ज्ञान का राग

ज्ञान सुखरुप ही है, फिर राग का ज्ञान भी क्यों न हो? राग दु:खरुप ही है, फिर ज्ञान का राग भी क्यों न हो? राग तो जहर ही है, फिर रागी के प्रति राग हो या वीतरागी के प्रति राग हो, वह अशुभ राग हो या शुभ राग, तीव्र राग हो या मंद राग।

लोकालोक को जानने का राग करने से लोकालोक जानने में नहीं आता है, क्योंकि पूर्ण वीतरागी परमात्मा को ही केवलज्ञान होता है। अत: राग के कारण ज्ञान नहीं होता है। कल क्या होगा? ऐसा जानने का राग करने से कल का ज्ञान नहीं हो जाता।

जब जीव अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष से मुक्त होता है, तब ही मति-श्रुत-अवधिज्ञान प्रकट हो सकते हैं। मिथ्याद्रष्टी जीव के मति-श्रुत-अवधिज्ञान को क्रमश: कुमति-कुश्रुत-कुअवधिज्ञान कहते हैं। जब जीव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण राग-द्वेष से मुक्त होता है, तब ही उसे मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो सकता है। जब जीव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन इन समस्त प्रकार के कषाय एवं नोकषाय से मुक्त होकर पूर्ण वीतरागी होता है, तब ही केवलज्ञान या पूर्णज्ञान प्रकट होता है। अत: याद रहे कि राग-द्वेष के कारण ज्ञान में वृद्धि मानना मिथ्यात्व है।

जिसप्रकार राग करने से ज्ञान नहीं होता, उसीप्रकार ज्ञान करने से राग नहीं होता। यदि किसी पदार्थ के ज्ञान से राग होता, तो सर्वज्ञ भगवान लोकालोक को जानते हैं, परन्तु सर्वज्ञ भगवान को तो राग का अंश भी उत्पन्न नहीं होता। अल्प ज्ञान के कारण अल्प राग एवं अल्प दु:ख हो, तो निगोद के जीवों को अल्प ज्ञान होने से उन्हें राग एवं दु:ख भी अल्प ही कहना चाहिए। परन्तु सत्य तो यह है कि संसार में निगोद के जीव ही सर्वाधिक दु:खी हैं।

सार यह है कि राग और ज्ञान दोनों ही अपनी-अपनी योग्यतानुसार

ही होते हैं। न तो ज्ञान का कर्ता राग है और न ही राग का कर्ता ज्ञान।

कुछ लोग विकार से मुक्त होने की साधना की विधि बताते हुए ऐसा कहते हैं कि जैसे ही आत्मा में विकार उत्पन्न हो, उस विकार को दबाओ मत, शीघ्र ही बाहर निकाल दो। क्योंकि यदि विकार को अन्दर ही दबा दिया तो एक दिन वह भयानक स्वरुप लेकर पुनः उत्पन्न होगा। कुछ लोग कहते हैं कि विकार को बाहर ही मत निकालो। यदि वह विकार अन्दर ही रह गया, तो कालांतर में अपने आप सहज ही शांत हो जायेगा।

ज्ञानी कहते हैं कि राग तो आग है, राग की आग को बाहर भी मत निकालो और अन्दर भी मत दबाओ। जिसने राग की आग को बाहर निकाल दिया, वह दूसरे को जलायेगा और जिसने राग की आग को अन्दर ही दबा दिया, वह अपने को जलायेगा। ज्ञानी धर्मात्मा राग की आग को जानकर राग से द्रष्टि हटाकर ज्ञान स्वभाव में स्थिर होते हैं। ज्ञानधारा की वर्षा से राग की आग सदा के लिए सहज ही बुझ जाती है।

ज्ञानी कहते तो यहाँ तक कहते हैं कि जिस घर में तुम रहते हो, जो तुमने धन खर्च करके खरीदा है, उस घर में भी जब आग लग जायें तो उस घर को भी छोडकर बाहर निकल जाने में ही समज़दारी है। उसीप्रकार घरसंसार में पंचेन्द्रिय के विषयों की आग का ज्ञान होते ही संयोगीभाव एवं संयोग से द्रष्टि हटाकर निज आत्मा के त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक स्वरुप में स्थिर होने में ही आत्मा की समज़दारी है।

ज्ञान, आत्मा का स्वभाव है और राग, आत्मा का विभाव है। स्वभाव के कारण विभाव उत्पन्न होता हो, तो सभी जीवों को विभावरुप परिणमन होना चाहिए। यदि ऐसा होता तो किसी भी जीव को मुक्ति नहीं होती। इसीप्रकार विभाव के कारण स्वभाव प्रकट होता हो, तो सभी जीवों को स्वभावरुप परिणमन होना चाहिए। यदि ऐसा होता तो सभी जीवों को मुक्ति मिल जाती। अतः ज्ञान एवं राग को पृथक् जानकर एवं मानकर राग से द्रष्टि हटाकर ज्ञान स्वभाव पर द्रष्टि करनी चाहिए। स्वभाव पर द्रष्टि करने से ही स्वभाव की अनुभूति होगी और निश्चितरुप से मुक्तिरुपी लक्ष्मी का भी वरण होगा।

६. ज्ञेयाकार ज्ञान एवं ज्ञानाकार ज्ञान से पार मात्र ज्ञान

ज्ञेय का आकार ज्ञेय में ही होता है, ज्ञान में नहीं। ज्ञान का आकार ज्ञान के कारण ही है, ज्ञेय के कारण नहीं। परद्रव्य का आकार ज्ञान में जानने में नहीं आता, परन्तु ज्ञान में यह जानने में रहा है, वह आकार मेरा ही आकार है। मैं भगवान आत्मा निरंतर अपना ही अनुभव करता हूँ। स्वयं की अनुभूति में पर का प्रवेश है ही नहीं। पर तो पर में ही रहता है। स्वयं की अनुभूति होने पर भी परज्ञेयों में सुखबुद्धि होने से अज्ञानी पर के सम्बन्ध में विकल्प करके वृथा ही दु:खी होता है।

विशेष ज्ञान के आकार के भेद के कारण, अज्ञानी स्वयं को भेदरुप मानता है। जिसप्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान पर द्रष्टि करने से स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्प आत्मानुभूति नहीं होती, उसीप्रकार ज्ञानाकार ज्ञान पर द्रष्टि करने पर भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष निर्विकल्प आत्मानुभूति नहीं होती है। क्योंकि ज्ञानाकार ज्ञान भी ज्ञेयाकार ज्ञान के समान निरंतर परिणमित होता है, वे दोनों ही पर्याय है अत: याद रहे कि **एक मात्र ज्ञानस्वभाव को जानने से ही स्वभाव की अनुभूति होती है।**

ज्ञानी को ज्ञेयों के आकार में तो रुचि नहीं है, साथ ही ज्ञान के आकार में भी रुचि नहीं है। ज्ञान के आकार का रस भी उपयोग को ज्ञेयों के आकार को जानने की ओर ले जाता है। **ज्ञानी की रुचि तो एक मात्र ज्ञायकभाव में ही होती है। वे मानते हैं कि ज्ञायक की रुचि सुख का कारण नहीं है, बल्कि ज्ञायकभाव स्वयं सुखस्वरुप है।**

जैसे - किसी व्यक्ति ने पिपासु को पानी दिया, वह पिपासु जिस पात्र में पानी मिला उस पात्र के आकार को तो द्रष्टि में नहीं लेता, साथ ही पानी के आकार पर भी द्रष्टि नहीं करता है। वहाँ पात्र का आकार और पानी का आकार, एक ही लगता है। फिर भी पात्र का आकार पात्र के कारण है

और पानी का आकार पानी के कारण है। यदि पात्र के कारण पानी का आकार होता तो उसी पात्र में पत्थर के टुकडे रखने पर पत्थर का आकार भी पात्र के आकार जैसा हो जाना चाहिए, परन्तु पत्थर का आकार तो पात्र जैसा नहीं होता है। अतः सर्वप्रथम यह बात अच्छी तरह से समझ़ लेनी चाहिए कि पानी का आकार पानी के कारण है, पात्र के कारण नहीं। उसीप्रकार ज्ञेयों के कारण ज्ञान में आकार नहीं होता है, ज्ञान का आकार ज्ञान के कारण ही है।

जिसप्रकार पिपासु ने तो पानी को ही अपना लक्ष्य माना है, पानी को ही चाहा है। पानी मिलने पर जब वह पानी का अनुभव करता है, तब तो वह समस्त विकल्पों को छोडकर पानी का ही अनुभव करता है। यदि वह पिपासु पात्र या पानी के आकार को द्रष्टि में लेगा, तो पानी का लक्ष्य ही छूट जायेगा। उसीप्रकार जिज्ञासु ने तो ज्ञानस्वभाव को ही अपना लक्ष्य माना है, ज्ञानस्वभाव को ही चाहा है। ज्ञानस्वभाव की अनुभूति होने पर समस्त विकल्पों के समूह विलय को प्राप्त हो जाते हैं। यदि जिज्ञासु ज्ञेयाकार ज्ञान या ज्ञानाकार ज्ञान पर द्रष्टि करेगा, तो ज्ञानस्वभाव से द्रष्टि ही छूट जायेगी।

जो व्यक्ति पात्र का आग्रह रखकर ऐसा कहे कि मुझे कांच के पात्र में ही पानी चाहिए या चांदी के पात्र में ही पानी चाहिए या सोने के पात्र में ही पानी चाहिए, वह व्यक्ति पानी का प्यासा नहीं है। प्यासा व्यक्ति कभी पात्र को नहीं देखता। उसीप्रकार ज्ञानाकार ज्ञान की रुचिवाले जीव भी ज्ञानस्वभाव की रुचि वाले नहीं है, वे नित्य स्वभाव की रुचि वाले नहीं हैं, बल्कि क्षणिक की रुचि वाले ही हैं।

ज्ञान का आकार सुख या दुःख का कारण नहीं होता है। स्वभाव की अनुभूति होना सुख का और स्वभाव की अनुभूति न होना दुःख का कारण है। आकार क्षणिक है, स्वभाव नित्य है। क्षणिक पर्याय का क्षणिक आकार में स्थिर होना विकल्प है। क्षणिक पर्याय का नित्य स्वभाव में स्थिर होना निर्विकल्प है, क्योंकि नित्य स्वभाव का आश्रय लेकर क्षणिक पर्याय भी द्रव्य के साथ अभेद हो जाती है।

एक बार स्वभाव में एकत्व स्थापित होने के पश्चात् विभाव को जानने

के काल में भी ज्ञानी एक मात्र ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करते हैं। अतः ज्ञानी निरंतर सुख का ही अनुभव करते हैं। दुःख को जानने के काल में भी ज्ञान स्वभाव की अनुभूति होने से ज्ञानी दुःख के काल में भी सुखी है। दुःख में एकत्व नहीं होने से ज्ञानी को दुःख की अनुभूति नहीं, बल्कि ज्ञान स्वभाव की अनुभूति होती है।

साधक आत्मा को ज्ञानस्वभाव का प्यासा कहने में भी आश्चर्य होता है। लोक में कहा जाता है कि जल में रहकर भी मीन प्यासी रह जाती है, तो आश्चर्य ही होता है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा, ज्ञान में नहीं रहता, ज्ञान आत्मा में रहता है, ज्ञान ही आत्मा है, फिर भी आत्मा को ज्ञान का पिपासु कहना अजीब-सा लगता है और खेद भी होता है। **फिर भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वभाव का पिपासु स्वयं को हीन न मानें, क्योंकि स्वभाव की रुचि होना ही स्वभाव की अनुभूति का पहला कदम है।**

आत्मारुपी अमूल्य चैतन्य रत्न की उपलब्धि दुर्लभ अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं है। जैसे - कोई व्यक्ति रास्ते में मिले हुए रत्न को लेकर घर आता है, फिर उसे एकांत में देख-देखकर उसे भोगता है। ऐसे ही साधक जीव आत्मारुपी रत्न के स्वरुप का गुरु के प्रवचन से समुह में ज्ञान प्राप्त करके एकांत में अनुभूति करता है और सुख को भोगता है। जैसे, रत्न की अनुभूति में समस्त विकल्प विलीन हो जाते है, ऐसे ही आत्मा की अनुभूति होने पर समस्त विकल्पों का परिभ्रमण रुक जाता है।

शरीरादि परपदार्थ तो मेरा स्वरुप नहीं है, परपदार्थ के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष के विकारी भाव भी मेरा स्वरुप नहीं है। परपदार्थो को जानने वाला खंड-खंडरुप क्षयोपशम ज्ञान भी मेरा स्वरुप नहीं है। क्षयोपशमज्ञान का आकार तो ज्ञेय का ही आकार है क्योंकि क्षयोपशमज्ञान भावेन्द्रिय है, यहाँ तक कि क्षयोपशमज्ञान को जानने वाले ज्ञान का अपनी योग्यता से होने वाला ज्ञान का आकार भी मेरा स्वरुप नहीं है क्योंकि वह आकार भी एक समय की पर्याय है। **ज्ञान स्वभाव एवं ज्ञान स्वभावी ऐसे भेद भी जिसमें नहीं होते है, वह ज्ञायक ही मैं हूँ, ऐसी निर्विकल्प प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरुप अनुभूति की विधि ही ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचने की विधि है।**

७. पर प्रकाशक एवं स्व प्रकाशक के विकल्प से अतीत आत्मा

जब-जब आत्मा के ज्ञान स्वभाव के सम्बन्ध में चर्चा होती है, तब-तब यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि पर को जानना, आत्मा का स्वभाव है या स्व को जानना, आत्मा का स्वभाव है या स्व और पर दोनों को जानना, आत्मा का स्वभाव है?

ज्ञानी अत्यंत करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे भाई! आत्मा का स्वभाव तो जानना मात्र है। क्या आत्मा के जानपने को स्व और पर के भेद में विभाजित करने से क्या आत्मानुभूति हो जायेगी? नहीं, कदापि नहीं। जो जीव स्व प्रकाशक एवं पर प्रकाशक के भेद में ही अटक जाता है, उसे आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अनुभूति होना सम्भव नहीं है।

दीपक पर को प्रकाशिक करता है या स्व को प्रकाशित करता है? **दीपक का स्वभाव तो प्रकाशरुप परिणमित होकर भी प्रकाशरुप रहना मात्र है। उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानरुप परिणमित होकर भी ज्ञानरुप रहना मात्र है।** स्व और पर ज्ञेय है, भेदरुप ज्ञेयों की रुचि वाले जीवों को ज्ञान की अनुभूति कैसे होगी? पर को जानने में तो पर सम्बन्धी विकल्प है ही, साथ-साथ स्व को जानता है ऐसा कहने में भी पर का विकल्प खडा होता है। आत्मा का स्वभाव तो मात्र जानना है। **ज्ञान स्वभावी आत्मा में एकत्व होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है।** जैन बालपोथी पढ़ने वाला छोटा बच्चा भी यह जानता है कि मैं जीव हूँ, ज्ञान मेरा गुण है, जानना मेरी पर्याय है। वहाँ जानने मात्र को मेरा कार्य या पर्याय कहा है।

जीव कब तक स्व प्रकाशक और पर प्रकाशक सम्बन्धी भेद के विकल्प में उलझता रहेगा? क्या भेद में उलझकर उसी में अटक जाने से या उस विषय सम्बन्धी वाद-विवाद से आत्मानुभूति हो जायेगी? हां, निश्चय से स्व प्रकाशक एवं व्यवहार से पर प्रकाशक ऐसे भेद तो अभेद ज्ञानस्वभाव की अनुभूति के

लिए समझाये गए थे। अनुभूति तो निश्चय एवं व्यवहार दोनों से निरपेक्ष होती है। प्राथमिक भूमिका में स्व प्रकाशक एवं पर प्रकाशक ऐसे भेद बताकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि स्व को न सिर्फ जानना है बल्कि स्व को जानकर उसमें एकत्व करके स्थिर भी होना है, जबकि पर को मात्र जानना है।

यदि आत्मा को स्व प्रकाशक ही मानें और पर प्रकाशक न मानें, तो केवलज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय एवं केवल, इन पांच प्रकार के ज्ञान में से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एवं केवलज्ञान ये तीन ज्ञान ही स्व को जानते हैं, जबकि पांचो ही ज्ञान पर को जानते है। अत: स्व प्रकाशक ज्ञान से पर प्रकाशक ज्ञान की संख्या अधिक है। अत: पर प्रकाशक स्वभाव का निषेध नहीं करना चाहिए। यदि आत्मा को पर प्रकाशक ही मानें और स्व प्रकाशक न मानें, तो आत्मज्ञान की ही सिद्धि नहीं हो सकती। आत्मज्ञान के बिना केवलज्ञान होगा कैसे? अर्थात् स्व प्रकाशक स्वभाव की सिद्धि के बिना पर प्रकाशक स्वभाव की सिद्धि होगी कैसे? अत: स्व प्रकाशक स्वभाव का निषेध नहीं करना चाहिए। सार यह है कि जाननेवाले ज्ञान में अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु जिस ज्ञान स्वभाव को जानने से आत्मज्ञान एवं केवलज्ञान सहज ही प्रकट होते हैं, वह ज्ञान स्वभाव अभेद, अखण्ड, त्रिकाल, एक ही है।

जो जीव स्व को जानने वाला आत्मा है और पर को जानने वाला आत्मा है, इन विकल्पों में ही उलझता रहेगा और इसी विषय पर बहस भी करेगा तो कदाचित् पांडित्यपने के कारण समाज में पल दो पल के लिए अपनी प्रशंसा के मीठे शब्दों को भी सुन लेगा, परन्तु इससे भी पायेगा क्या? अपनी वाह-वाह सुनकर खुश होगा और मान कषाय की पुष्टि करके, कर्म का बंध तो करेगा ही करेगा, साथ ही अमूल्य मनुष्य भव को व्यर्थ ही गँवा देगा।

प्रत्येक जीव को यह बात अच्छी तरह से याद रखनी चाहिए कि जो क्षयोपशम ज्ञान जीव ने मंद कषाय से अकषाय तक पहुँचने के लिए प्राप्त किया है, वही क्षयोपशम ज्ञान उसके कषाय की तीव्रता का कारण न बन जायें। अत: हे जगतजनो! जगत से निरपेक्ष होकर स्वभाव का आश्रय लेकर अपने में स्थिर हो जाओ, इसी में अमूल्य मनुष्यभव की सार्थकता है।

८. ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता की अद्भूत चरम सीमा

ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता की चरम सीमा का अनुभव होने पर जीव निश्चितरुप से उर्ध्वलोक की चरम सीमा पर बिराजमान होता है। आत्मानुभवी जीव नियम से मुक्त होता है। **ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता समज़ने पर ही ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी भेदरुप विकल्प समाप्त होते हैं।** अतः साधक को ज्ञान और ज्ञेय का स्वतंत्र स्वरुप बहुत ही गहराई में जाकर, उपयोग की सूक्ष्मता से समज़ना चाहिए।

ज्ञान और ज्ञेय का यथार्थ स्वरुप समज़ने हेतु साधक को सर्वप्रथम यह निर्णय कर लेना चाहिए कि केवली भगवान ने अपने केवलज्ञान में जो जाना है, इस जगत में वही होगा या इस जगत में जो होगा, वह केवली भगवान ने केवलज्ञान में जाना है? यद्यपि केवलज्ञान में लोकालोक के त्रिकालवर्ती ज्ञेय जानने में आते हैं, ऐसा कहा जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता की वस्तुस्थिति तो यह है कि केवलज्ञान की पर्याय अपनी तत्समय की स्वतंत्र योग्यतानुसार परिणमित होती है। केवलज्ञान की पर्याय का परिणमन अपने कारण होता है और जगत के ज्ञेयों का परिणमन अपने कारण होता है। ज्ञान में ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता और ज्ञेयों में ज्ञान का प्रवेश नहीं होता। ऐसा होने पर भी यही कहा जाता है कि केवलज्ञान लोकालोक को जानता है। ऐसा **मात्र कहा जाता है,** इसीलिए तो केवलज्ञान को लोकालोक का जानने वाला **व्यवहार** से कहा है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि नमक को जीभ पर रखने से उसके खारेपने का ज्ञान होता है, परन्तु नमक का खारापना तो ज्ञेय है, ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान और ज्ञेय की स्वतंत्रता को नहीं जानने से अज्ञानी को ज्ञेय के कारण ही ज्ञान का परिणमन लगता है।

जैसे - आत्मा की ज्ञान पर्याय के धाराप्रवाहरुप परिणमन में आज चार बजे खारेपने को जाननेरुप परिणमन अनादिकाल से सुनिश्चित था, चार बजे ज्ञान की पर्याय का स्वतंत्रतापूर्वक, अपनी क्रमबद्धपर्याय की तत्समय की योग्यतानुसार खारेपने को जाननेरुप परिणमन होता है, तब बाह्य में जीभ पर नमक का स्पर्श भी होता है, अत: अज्ञानी को ऐसा भ्रम हो जाता है कि ज्ञेय के कारण ज्ञान हुआ है। नमक का खारापन परद्रव्य की पर्याय है, खारेपने को जाननेवाली पर्याय आत्मद्रव्य की है। **परद्रव्य की पर्याय के कारण मेरा परिणमन नहीं हो सकता। ज्ञान का परिणमन अपने कारण है, ज्ञेय का परिणमन ज्ञेय के कारण है।**

जब जीव ऐसा जानता और मानता है कि यह जो खारेपने को जाननेरुप ज्ञान है, वह मेरा ही परिणमन है, इस ज्ञान के परिणमन में नमक के खारापने का परिणमन है ही नहीं। नमक का खारापन नमक को छोडकर आत्मा के ज्ञान में कैसे आ सकता है? **जब जीव निरंतर परिणमित होकर भी ज्ञानरुप रहने वाले अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करेगा, तब राग-द्वेष से सहज ही मुक्त होगा। क्योंकि स्वभाव का आश्रय लिये बिना रागादि भाव का अभाव कदापि नहीं हो सकता।**

दीपक की ज्योति पवन के निमित्त से अस्थिर होती रहती है, फिर भी ज्योति अपने ज्योति स्वरुप में ही स्थिर रहती है। अस्थिर होने पर भी अपने ज्योति स्वरुप में स्थिर होना ही ज्योति का जीवंतपना है। वहीं दूसरी ओर बीजली का बल्ब प्रकाशित हो, परन्तु वह बल्ब दीपक की ज्योति की भांति अस्थिर नहीं होता। उसमें प्रतिसमय नयापन नहीं होता। वह बीजली का बल्ब जल रहा है, फिर भी जड ही जल रहा है, उसमें जीवंतपना भासित नहीं होता। जबकि दीपक का जलना जीवंत है। एक जलते हुए बल्ब के संपर्क से दूसरे बल्ब को नहीं जलाया जा सकता परन्तु एक जलता हुआ दीपक अनेक दीपक को जलाने में समर्थ है, क्योंकि वह दीपक जीवंत है।

आत्मा की ज्ञान ज्योति भी दीपक की भांति प्रतिसमय परिणमित होती रहती है, फिर ज्ञान तो निरंतर ज्ञानरुप ही रहता है। ज्ञान कदापि रागरुप नहीं होता है, अज्ञानरुप नहीं होता है, यहाँ तक कि ज्ञान कदापि ज्ञेयरुप भी नहीं

होता है। **ज्ञानरुप परिणमित होकर भी ज्ञानरुप रहना ही ज्ञान का जीवंतपना है।**

साधक को निरंतर ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि ज्ञेयों को जानने के काल में जो ज्ञान का जाननेरुप सामान्य परिणमन हो रहा है, ऐसा त्रिकाल एकरुप ज्ञानस्वभाव ही मेरा स्वरुप है। क्योंकि उस सामान्य ज्ञान की अनुभूति में ही अनन्त गुणों का पिण्ड एक ज्ञायक का अनुभव गर्भित है।

जब तक ज्ञेय और ज्ञान की स्वतंत्रता को नहीं जानेंगे तब तक पर ज्ञेयों से द्रष्टि हटेगी ही नहीं। अत: स्वभाव की प्राप्ति के जिज्ञासु जीवों को यह अवश्य जानना चाहिए कि ज्ञान का स्वरुप एवं परिणमन पर ज्ञेयों से निरपेक्ष, स्वतंत्र एवं स्वाधीन है। ज्ञान की प्रत्येक पर्याय परिपूर्ण है। अज्ञानी स्वयं को अपूर्ण मानता है, अत: वह स्वयं को परिपूर्ण करने के लिये अनेक प्रकार के ज्ञेयों में उपयोग को भमाता है, फल स्वरुप आकुलता एवं दु:ख ही प्राप्त करता है। ज्ञानी का उपयोग सुखबुद्धिपूर्वक तरह-तरह के ज्ञेयों में भ्रमित नहीं होता। ज्ञानी तो स्वयं को स्वयं से परिपूर्ण ही मानते हैं और अनुभव भी ऐसा ही करते हैं।

अज्ञानी मानता है कि मुझे पर ज्ञेयों का ही अनुभव हो रहा है, अत: वह चित्र-विचित्र विकल्प करता है कि यह ज्ञेय मेरे ज्ञान में क्यों आया? यह ज्ञेय मेरे ज्ञान से कब जायेगा? यह ज्ञेय मेरे ज्ञान में कब तक रहेगा? यह ज्ञेय मेरे ज्ञान... आदि विकल्पों की जाल में फंसकर अज्ञानी अत्यंत आकुलित होता है। वहीं दूसरी ओर ज्ञानी मानते हैं कि यह जो अनुभव हो रहा है, वह मेरे ज्ञान का ही अनुभव है, मेरे ज्ञान की वर्तमान समय की निर्मल अवस्था का अनुभव है। ज्ञानी न तो पर पदार्थ में संकल्प करते हैं, न ही विकल्पों की जाल में अपने को फंसाते हैं।

पर पदार्थ में अहंकार-ममकार का भाव उत्पन्न होना संकल्प है। ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञान में भेद जानना ही विकल्प है। संकल्प और विकल्प से मुक्त होना ही मुक्ति है। एक समय के लिए भी संकल्प का भाव उत्पन्न हो, तो आत्मज्ञान और विकल्प उत्पन्न हो तो केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है। **आत्मसाधना के साधक जीव को निरंतर यह अभ्यास करना चाहिए कि मैं संकल्प और विकल्प से त्रिकाल भिन्न निर्विकल्प भगवान आत्मा हूँ।**

९. ज्ञान और राग में प्रदेशभेद

स्थूल द्रष्टि से देखने पर ज्ञान और राग का उत्पत्ति स्थान आत्मा है, फिर भी सूक्ष्म द्रष्टि से ज्ञान और राग सर्वथा भिन्न है और दोनों की उत्पत्ति का कारण भी पृथक् है। **ज्ञान आत्मा का स्वभाव है जबकि राग आत्मा में उत्पन्न होने वाला आत्मा का मैल है, विभाव है।**

ज्ञान को स्वभाव और राग को परभाव कहने का आशय यह है कि परद्रव्य से द्रष्टि हटाकर अपने निजस्वभाव पर द्रष्टि स्थिर करने पर भी ज्ञान का परिणमन यथावत् होता रहता है, अतः ज्ञान के परिणमन को परद्रव्य की अपेक्षा नहीं होने से ज्ञान स्वभाव है, वहीं दूसरी ओर परद्रव्य से द्रष्टि हटाकर अपने निजस्वभाव पर द्रष्टि करने से राग का परिणमन स्वतः रुक जाता है, राग की उत्पत्ति ही नहीं होती, अतः राग के परिणमन को परद्रव्य की अपेक्षा होने से राग परभाव है।

राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, अतः वीतरागी परमात्मा राग रहित भी विद्यमान है, परन्तु ऐसा कोई जीव नहीं है, जो ज्ञान रहित हो, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वभाववान से स्वभाव कदापि अलग नहीं हो सकता।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि आकाश के जिस प्रदेश पर शरीर है, उसी प्रदेश पर आत्मा है और जिस प्रदेश पर ज्ञान है, उसी प्रदेश पर राग है। स्थूल द्रष्टि से देखने पर परद्रव्य का ज्ञान जिस आत्मा में उत्पन्न होता है, परद्रव्य का राग भी उस आत्मा में ही उत्पन्न होता है, अतः ज्ञान और राग एक ही प्रदेश स्थित है। अज्ञानी की द्रष्टि इस बात पर जाती ही नहीं कि ज्ञान और राग में इतनी भिन्नता है कि दोनों के प्रदेश भी भिन्न-भिन्न है।

यदि ज्ञान और राग के प्रदेश में भेद नहीं होता तो ज्ञानी को निर्मल शुद्ध ज्ञान की अनुभूति के साथ उसी प्रदेश पर होने वाले राग की भी अनुभूति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है। अतः राग का प्रदेश भिन्न है और

ज्ञान का प्रदेश भिन्न है। **शुद्ध ज्ञान की अनुभूति के काल में खण्ड-खण्डरुप क्षयोपशमज्ञान भी अनुभव में नहीं आता, तो राग की अनुभूति होना, तो अत्यंत दूर की बात है।** क्षयोपशमज्ञान को ज्ञान नहीं कहा है, बल्कि परज्ञेय कहा है। जैसे लोकालोक आत्मा के ज्ञान का परज्ञेय है, उसके साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार खण्ड-खण्ड ज्ञानरुप क्षयोपशमज्ञान परज्ञेय होने से उसके साथ भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। लोकालोक की तरह क्षयोपशमज्ञान भी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की सत्ता में नहीं है। **जब भावेन्द्रियरुप क्षयोपशमज्ञान भी त्रिकाली ध्रुव आत्मा से भिन्न प्रदेश पर है, तब फिर राग रुप विकार की तो बात ही क्या करना?**

आकाश के एक ही प्रदेश पर स्थित होने पर भी ज्ञान और राग के प्रदेश को भिन्न-भिन्न कहा है एवं ज्ञान के प्रदेश आकाश के असंख्यात भिन्न-भिन्न पर होने पर भी उन समस्त प्रदेशों पर व्याप्त ज्ञान को अभेद कहा है। **क्योंकि स्वभाव आकाश के असंख्यात प्रदेशों पर व्याप्त हो, तो भी अभेद है, अभिन्न है और विभाव आकाश के एक ही प्रदेश पर हो, तो भी भेदरुप है, भिन्न है।**

निज आत्मा द्रव्यरुप से एक है अर्थात् संख्यात है, आत्मा के प्रदेश असंख्यात है, आत्मा के गुण अनन्त है। एक ही आत्मा में संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त ऐसे भिन्न-भिन्न रुप होने पर भी आत्मा तो एक अभेदरुप ही होता है।

यद्यपि आत्मा अनन्त गुणों का घनपिण्ड अभेद द्रव्य है फिर भी अभेद आत्मा में गुणभेद उत्पन्न करके आत्मा के स्वरुप को समज़ाया गया है। इस अपेक्षा से आत्मा में मुख्य तीन गुण है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र। देहाधीन द्रष्टि एवं अज्ञानरुपी भ्रम के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि शरीर के उपरि भाग पर, दिमाग में ज्ञान होता है, मध्य भाग पर, ह्रदय में श्रद्धा होती है और अधःभाग पर, पैरों में चारित्र होता है, क्योंकि चलने का नाम चारित्र है और पैर के कारण चलना होता है। अज्ञानी को शरीर में ही एकत्वबुद्धि होने से आत्मा के गुणों की शरीर में कल्पना करता है और उसमें भी प्रदेशभेद की कल्पना करता है। आत्मा का सत्य स्वरुप तो ऐसा है कि आत्मा के समस्त गुण आत्मा

के विभिन्न प्रदेशों पर नहीं होते। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त गुण व्याप्त है। यदि आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर आत्मा के अनन्त गुण नहीं होते तो आत्मा का लक्षण ज्ञान है, ऐसा कहने में अव्याप्ति दोष उत्पन्न होता।

आत्मा का ज्ञान आकाश के असंख्यात प्रदेशों पर व्याप्त होने पर भी अपने एक जानपने में ही अभेद है, यही कारण है कि अनुभूति के काल में ज्ञान के असंख्यात प्रदेश के भेद है, ऐसे विकल्प भी नहीं उठते। ज्ञान के प्रदेशों के भेदरुप विकल्प भी छूटे बिना निर्मल शुद्ध ज्ञान स्वभाव की अनुभूति नहीं होती।

जब स्वदेश की चर्चा होती है, तब भारत देश को छोडकर सभी देश परदेश की श्रेणी में चले जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति कहे कि मेरे घर में काम करने वाले सभी नौकर परदेशी है, क्योंकि सभी नौकर नेपाली है। तब उस व्यक्ति की बात को हंसकर गलत नहीं कह सकते। सत्य तो यह है कि भारत को छोडकर अन्य परदेश में भेद करने में ही अभेद भारत का अस्वीकार है। उसीप्रकार स्वभाव के प्रदेशों की चर्चा के काल में परद्रव्य के प्रदेशभेद का विकल्प भी नहीं होता है। तब भारत देश के प्रदेश, शरीर के प्रदेश एवं राग के भी प्रदेश आत्मा के ज्ञान के प्रदेशों की अपेक्षा से परप्रदेश ही है।

आत्मा की अनुभूति के काल में आत्मा के ही गुणों के भेद का विकल्प भी अनुभव में नहीं आता, तो रागादि भावरुप विकल्प आत्मानुभूति के काल में अनुभव में कैसे आ सकते हैं? अनुभूति के काल में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण जो आत्मा के स्वभाव हैं, उन गुण सम्बन्धी विकल्प भी छूट जाते है, तो विभाव सम्बन्धी विकल्प तो अत्यन्त पर की श्रेणी में विद्यमान है।

जिस प्रदेश पर ज्ञान है, उसी प्रदेश पर आत्मा के अनन्त गुणों का घनपिण्ड भगवान आत्मा है। आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का घनपिण्ड है, उसमें रागादिभाव तो क्या, क्षयोपशमज्ञान का भी प्रवेश नहीं हो सकता। यही कारण है कि ज्ञायकभाव को घनपिण्ड कहा है। ज्ञायक को घनपिण्ड जानने से पर की अपेक्षा और स्व की उपेक्षा सहज ही छूट जाती है। निर्मल ज्ञान सदाकाल के लिए निर्मल ज्ञान में स्थिर हो जाता है।

१०. ज्ञान सदैव निर्मल है

यह जीव अनादिकाल से मोह-राग-द्वेष के मलिन परिणामों कारण संसारचक्र में भटक रहा है। संसार परिभ्रमण के काल में आत्मा में मलिनता होने पर भी शुद्ध निर्मल ज्ञानस्वभाव तो इस भगवान आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है। अतः प्रत्येक जीव उस शुद्ध निर्मल ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेकर पर्याय में भी निर्मल हो सकता है।

गुणस्थान की परिभाषा में भी श्रद्धा और चारित्र गुण की तारतम्यरुप अवस्था को गुणस्थान कहा है। श्रद्धा गुण की अशुद्ध पर्याय का नाम मोह है और चारित्र गुण की अशुद्ध पर्याय का नाम राग-द्वेष है। ज्ञान गुण का अशुद्ध परिणमन नहीं होता। ज्ञान जिन्हें जानता है, उन पदार्थो में श्रद्धा गुण की पर्याय मोह करती है एवं चारित्र गुण की पर्याय राग-द्वेष करती है। अतः **श्रद्धा और चारित्र गुण की पर्याय तो अशुद्धतारुप परिणमित होती है परंतु ज्ञान गुण की पर्याय तो निरंतर जानती ही है, अतः ज्ञान सदैव निर्मल है।**

यहां तक कि श्रद्धा और चारित्र गुण के अशुद्ध परिणमन को भी ज्ञान जानता ही है, जानने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता है। इसलिए ज्ञान स्वभाव के माध्यम से ज्ञायक का आश्रय लेने का उपदेश दिया गया है।

जिसप्रकार रंगीन वस्त्र की तुलना में सफेद वस्त्र अधिक मैला हो जाता है, ऐसा नहीं है। दोनों वस्त्रों पर मैल एक-सा ही लगता है। उन दोनों वस्त्रों में अन्तर सिर्फ इतना है कि सफेद वस्त्र पर मैल स्पष्ट जानने में आता है। **अशुद्धता का ज्ञान भी शुद्धता में ही होता है। सफेद वस्त्र पर ही रंगीन दाग दिखाई देते हैं, ऐसे ही आत्मा में कषाय भावों की अशुद्धि का ज्ञान होना ही ज्ञान की शुद्धि का सूचक है।**

फिल्म के पर्दे पर रंगीन द्रश्य दिखाई देते हैं, परन्तु रंगीन द्रश्य के कारण पर्दा रंगीन नहीं हो जाता। कोई भी द्रश्य पर्दे को प्रभावित नहीं करता। आग के द्रश्य के कारण पर्दा जल नहीं जाता। पानी के द्रश्य के

कारण पर्दा भीग नहीं जाता। तलवारादि हथियारों के द्रश्य के कारण पर्दा कट नहीं जाता। हवा के द्रश्य की कारण पर्दा उड नहीं जाता। पर्दा तो समस्त द्रश्यों से अप्रभावित होकर निरंतर नित्य एकरुप ही रहता है। सिनेमाघर के मालिक को यह द्रढ श्रद्धान होता है कि मेरे पर्दे को किसी भी द्रश्य के कारण कुछ भी असर होने वाली नहीं है, अतः वह निश्चिंत होकर द्रश्यो को देखता है, जबकि सिनेमा देखने के लिए गये हुए लोग द्रश्य में तन्मय होकर द्रश्य देखते हैं, अतः उनके आत्मा में प्रतिसमय द्रश्य के पलटते ही विकल्पों की तरंगे उठती रहती है।

आत्मा के ज्ञान में रागादि भावरुप चित्र-विचित्र विकल्प जानने में आते हैं, परन्तु ज्ञान विकल्पमय नहीं हो जाता। क्रोधरुपी आग के कारण ज्ञान क्रोधमय होकर नष्ट नहीं हो जाता। मानरुपी शीतलता आत्मा को शांति नहीं पहुँचा सकती। मायारुपी तलवार आत्मा का घात नहीं कर देती। लोभरुपी हवा आत्मा को विलीन नहीं कर सकती। **ज्ञान तो समस्त विकारो से अप्रभावित होकर निरंतर नित्य एकरुप ही रहता है।**

ज्ञान के स्वामी ज्ञानी को यह द्रढ श्रद्धान होता हैं कि मेरे ज्ञान को किसी भी विकार के कारण कुछ भी असर होने वाली नहीं हैं, अतः वे ज्ञानी निश्चिंत होकर विकार को जानते मात्र हैं, जबकि अज्ञानीजन क्रोधादि कषायभाव एवं विकल्प की तरंगो में ही तन्मय होकर आकुलित एवं दुःखी होते हैं।

जिसप्रकार एक कांच के ग्लास में लाल रंग का सरबत है। लाल रंग के सरबत के कारण होने से वह ग्लास लाल दिखाई देता है, परन्तु खास बात तो यह है कि लाल सरबत के कारण वह ग्लास लाल नहीं हो जाता है। उसीप्रकार आत्मा में राग-द्वेष के विकारी भाव है। राग-द्वेष के विकारीभाव होने से आत्मा रागी-द्वेषी अनुभव में आता है, परन्तु विशेष बात तो यह है कि राग-द्वेष के विभाव के कारण आत्मा रागी-द्वेषी नहीं हो जाता है।

यदि वह ग्लास, लाल रंग के सरबत के कारण लाल हो जाता, तो लाल रंग के सरबत को बाहर निकालने के बाद उसमें हरे रंग का सरबत का भरने पर, हरे रंग का सरबत हरे रंग का नहीं दिखाई देता। उसीप्रकार यदि आत्मा का निर्मल ज्ञान, क्रोध भाव के कारण क्रोधी हो जाता, तो

क्रोध समाप्त होने बाद जब मान होता है, वह मान आत्मा के ज्ञान में जानने में आता ही नहीं। दूसरे समय में मान का ज्ञान होता है, वह ज्ञान इस बात को सिद्ध करता है कि क्रोध ने ज्ञान को क्रोधी नहीं बनाया। **किसी भी विकार के कारण ज्ञान की निर्मलता कदापि प्रभावित नहीं होती।**

जब मेहमान को सरबत देते हैं, तब यह विश्वास है कि मेहमान सरबत को ही पीने वाले हैं, मेरा ग्लास तो मेरे पास ही रहने वाला है। ऐसे ही रागादि भाव के व्यय होने पर भी ज्ञान तो मेरे आत्मा में नित्य रहने वाला है। यहाँ तो रागादि भाव किसी मेहमान पेट में चले नहीं जाते, क्योंकि रागादि विकारी भाव स्वयं मेहमान है। आते हैं और जाते हैं। यदि उन रागादिभावरुपी मेहमान का आदर-सत्कार किया, उन्हें महत्त्व दिया, तो बार-बार आयेंगे। यदि रागादि भाव की उत्पत्ति के काल में भी उनकी ओर द्रष्टि नहीं करके अपने ज्ञानकार्य में ही लीन रहेंगे तो वे रागादि मेहमान हमारे घर पर दूबारा आयेंगे ही नहीं।

जैसे-पानी के ग्लास में नीचे कचरा है, पानी मलिन है, यह जानना इस बात का सूचक है कि पानी निर्मल है। पानी की निर्मलता के कारण ही ग्लास के तल में अत्यन्त नीचे मलिनता है, यह ज्ञान हुआ है। पानी मलिन होता तो पानी के नीचे कचरा दिखाई भी नहीं देता। मंदबुद्धि व्यक्ति पानी को मलिन जानकर सम्पूर्ण पानी को ही छोड देते हैं, जबकि समझदार व्यक्ति भेदज्ञान के बल से पानी को पी लेते हैं और कचरे को नीचे ही छोड देते हैं। उसीप्रकार आत्मा में रागादि भाव की मलिनता ज्ञान होना ही आत्मा की शुद्धि का सूचक है।

अज्ञानी जीव आत्मा को सर्वथा मलिन जानकर आत्मा पर द्रष्टि तक नहीं करता। जबकि ज्ञानी आत्मा के शुद्ध स्वरुप का आस्वादन करते हैं और रागादि मलिनता की ओर द्रष्टि भी नहीं करते।

शुद्ध स्वभाव के आश्रय से ही ज्ञायक की अनुभूति होती है। अत: साधक को निरंतर यही चिन्तन-मनन करना चाहिए है कि मैं नित्य निर्मल ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा ही हूँ। **निर्मल ज्ञान में निर्मल ज्ञान की अनुभूति ही ज्ञानानुभूति है, ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है।**

११. ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है

ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभी जीव अपने ज्ञान की निर्मलता को जानते हैं। परन्तु ज्ञेय विशेष की आसक्ति के कारण सामान्य ज्ञान की अनुभूति न करके स्वयं को विशेषज्ञानमय मानकर खंडखंडरुप अनुभव करते हैं। ज्ञानी जानते हैं कि जो जानने में आ रहा है वह मैं ही हूँ, ऐसा जानने पर द्रष्टि परद्रव्य से हटकर अपने में सहज ही स्थित होती है। **ज्ञानस्वभावी निज भगवान आत्मा पर द्रष्टि किये बिना विकल्पातीत होना असम्भव है।**

पर्याय ही द्रव्य का एक समय का प्रकट स्वरुप है। समुद्र की लहर ही समुद्र का एक समय का प्रकट स्वरुप है, इसीप्रकार प्रतिसमय परिणमित होने वाला जानपना ही आत्मद्रव्य का एक समय का प्रकट स्वरुप है। यह सत्य है कि किरण ही सूरज नहीं है, परन्तु किरण में भी सूर्य का तेज ही प्रकट हो रहा है, वह तेज सूरज से भिन्न नहीं है। उसीप्रकार **ज्ञानरुपी किरण ही भगवान आत्मा नहीं है, परन्तु ज्ञानरुप किरण में भी आत्मा का स्वरुप प्रकट हो रहा है, वह जाननेरुप परिणमित होने वाली ज्ञानकिरण आत्मा से भिन्न नहीं है।**

ज्ञेय, ज्ञेय में है। ज्ञानी कभी भी ज्ञेयों से प्रभावित नहीं हो जाते। ज्ञानी को इस बात की यथार्थ प्रतीति होती है कि जिस प्रकार द्वेष करने वाले जीवों के प्रति द्वेष नहीं करना है, उसी प्रकार राग करने वाले जीवों के प्रति राग भी नहीं करना है। मुझे तो अपने त्रिकाली ज्ञान स्वभाव का आश्रय लेना है, परज्ञेयों का आश्रय लेकर अपने स्वभाव से नहीं हटना है। जब मैं अपने त्रिकाली शुद्ध स्वभाव का अनुभव करता हूँ, तभी राग-द्वेष के विकारी भावों से रहित होकर वीतरागपद को प्राप्त होता हूँ।

यद्यपि ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है, फिर भी अज्ञानी ज्ञान की अनुभूति में भी ज्ञेयों की कल्पना करके व्यर्थ में राग-द्वेष करता है। ज्ञेयों के भेद कारण अपने अभेद स्वरुप में भी अज्ञानी भेद की व्यर्थ कल्पना करता है। नरक में आपस में लडते-लडते नारकी एक-दूसरों के शरीर के

तिल-तिल जितने टुकडे कर देते हैं, वहाँ तो मात्र शरीर ही खण्डित होता है, ज्ञेयों के भेद के कारण स्वयं को भेदरुप मानने वाला अज्ञानी स्वयं को अनन्त खण्डो में खण्डित मानता है और अनन्त दुःख भोगता है।

जो जानने में आता है वह ज्ञान ही है, अब किस पर राग और किस पर द्वेष? इस तत्त्वविचार के बल पर ज्ञेय की रुचि छूटती है और ज्ञान की महिमा बढती है।

कमरे में अंधेरा हो और उस कमरे में अनेक पदार्थ रखे हो फिर भी वे पदार्थ दिखाई नहीं देते हैं। जैसे ही प्रकाश होता है, कि वे पदार्थ दिखाई देते हैं। सूक्ष्म द्रष्टि से विचार करने पर समज़ में आता है कि उस समय पदार्थ नहीं, बल्कि प्रकाश दिखाई देता है। वे पदार्थ तो पहले भी थे, फिर भी दिखाई नहीं देते थे। प्रकाश के ज्ञान के काल में भी पदार्थो के वशीभूत होने से उस व्यक्ति को पदार्थ का ज्ञान ही होता है, प्रकाश का नहीं। उसीप्रकार प्रत्येक जीव को नित्य ज्ञान की अनुभूति हो रही है, ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है, फिर भी पांच इन्द्रिय के विषयो की वासना के कारण पंचेन्द्रिय के विषय ही जानने में आते है, वह जीव ज्ञान के जानपने में ही विषयो के जानपने का अनुभव करता है। **ज्ञानी ज्ञेयों को जानते समय भी ज्ञान का ही अनुभव करते हैं। ज्ञानी की ऐसी अनुभूति में सहजता होती है।**

कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि अब मुझे किसी भी व्यक्ति के कोई भी शब्द अच्छे या बुरे नहीं लगते। ज्ञानी उसे कहते हैं कि जब तक तूझे शब्द का अनुभव होता है, तब तक तूझे परज्ञेय का ही अनुभव होता है। जब परज्ञेय को द्रष्टि में नहीं लेगा, तब तूझे मात्र ज्ञान का अनुभव होगा।

अज्ञानी को क्रोधादि भावों में एकत्व होने से क्रोधादि भावो की अनुभूति होती है, जबकि ज्ञानी को उपयोग में उपयोग अर्थात् ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है। क्रोधादि भावों में एकत्व करने वाले अज्ञानी आकुलित एवं दुःखी होते हैं और ज्ञान में एकत्व करने वाले ज्ञानी निराकुल एवं सुखी होते हैं।

ज्ञानी को कोई क्रोधी या मानी कहे अथवा रागी या द्वेषी कहे, तो भी

ज्ञानी जानते एवं मानते हैं कि यह मुझे नहीं कहा। क्रोधी एवं मानी जैसे उपनामों से पुकारे जाने पर भी उन शब्दों की असर ज्ञानी को नहीं होती।

जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपशब्द कहता है, तब उसका उद्देश्य तो यही होता है कि आपको उसके शब्दो की असर हो। यदि आप उन शब्दों का प्रतिभाव व्यक्त नहीं करेंगे तो उसका कषाय तीव्र हो जायेगा। क्योंकि जिन शब्दों का स्वीकार आपने नहीं किया है, वे शब्द पुनः उस व्यक्ति के पास लौट जाते हैं और तीर की तरह उसकी छाती में चुभते हैं। वचन से प्रहार करने वाले व्यक्ति का कषाय इतना तीव्र हो जाता है कि वचन का प्रहार काया में रुपांतरित हो जाता है। भेदज्ञान के बल से ज्ञानी को वचन का प्रहार प्रभावित नहीं करता, उसी तरह भेद ज्ञान के बल से काया से होने वाला प्रहार भी ज्ञानी को विचलित नहीं करता। **त्रिकाली ज्ञायक में स्थिरता के बल पर ही ज्ञानी उपसर्ग विजयी हो जाते हैं।**

मैं कठोर भी नहीं हूँ और मैं करुणावान भी नहीं हूँ। मैं लोभी भी नहीं हूँ और मैं उदार भी नहीं हूँ। ये सभी भाव उदयगत है। जिस जीव को राग-द्वेष के विभाव में एकत्व नहीं होता है, उस जीव को राग-द्वेष के विभाव को जानने वाले क्षयोपशम ज्ञान में भी एकत्व नहीं होता है। राग को जानने वाला ज्ञान आत्मा का स्वरुप नहीं है, आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। ज्ञानी मानते हैं कि मैं भगवान आत्मा सभी प्रकार के उदय से निरपेक्ष मात्र जानने-देखने वाला हूँ।

जिसप्रकार केवली भगवान को लोकालोक ज्ञान पर्याय में जानने में तो आता है, परन्तु भगवान को अपने स्वभाव की ही अनुभूति होती है, लोकालोकरुप ज्ञेयों की नहीं। उसीप्रकार ज्ञानी को भी ज्ञान की प्रत्येक पर्याय में ज्ञान की अनुभूति होती है। अज्ञानी पर को स्वीकार करने के भाव को धर्म मानता है, ज्ञानी कहते हैं कि स्वभाव का स्वीकार किये बिना पर का स्वीकार हो ही नहीं सकता। **मात्र पर का स्वीकार करने वाला जीव भी पर का ही अनुभव करता है, जब एक मात्र ज्ञान की अनुभूति होती है, तब ही सुख की अनुभूति होती है।** जिसप्रकार अदालत में गीता पर हाथ रखकर आरोपी कसम खाकर कहता है कि मैं जो कहूँगा, सच कहूँगा। सच

सिवा और कुछ नहीं कहूँगा। वहाँ भी अस्ति और नास्ति दोनों पक्ष को लक्ष्य में रखकर बयान दिया जाता है। उसीप्रकार अध्यात्म में भी अस्ति की मुख्यता ऐसा कहते हैं कि जानने वाला ही जानने में आता है और नास्ति की मुख्यता से ऐसा कहते है कि पर जानने में नहीं आता। स्वभाव की अस्ति एवं परभाव की नास्ति इन दोनों पक्ष की यथार्थ श्रद्धा ही स्व-पर की यथार्थ श्रद्धा है, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

जब परज्ञेय ज्ञान में जानने में नहीं आता, ज्ञान ही ज्ञान में जानने में आता है, तब ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के भेद रहते ही नहीं। यहाँ कोई पूछे कि यदि ऐसा है तो क्या सभी जीवों को आत्मानुभूति हो गई? अरे भाई! आत्मानुभूति हो नहीं गई बल्कि आत्मानुभूति निरंतर हो रही है। **मुझे निरंतर आत्मानुभूति ही हो रही है, परज्ञेयों की अनुभूति नहीं, ऐसा मानना ही आत्मा की उपलब्धि है। इसमें ही अनन्त पुरुषार्थ है।**

आत्मानुभूति हो रही है फिर भी इसे आत्मानुभूति नहीं मानना और परज्ञेयों की अनुभूति मानना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ही आत्मा को आत्मानुभूति होने पर भी आत्मानुभूति का आनन्द नहीं आता है। वह मानता है कि मुझे पर ज्ञेयों का अनुभव हो रहा है, ज्ञेय अनन्त है, ज्ञेयों को जानने की रुचि विकल्प है।

ज्ञानी को निर्विकल्प दशा कहने का कारण भी यही है कि ज्ञानी निरंतर एक ज्ञान को ही ज्ञेय मानते हैं। अतः ज्ञानी को विकल्प के काल में, निर्विकल्प अनुभूति नहीं होने पर भी निर्विकल्प दशा कही है। अनेक ज्ञेयों को जानना विकल्पात्मक दशा है और एक ज्ञेय को जानना निर्विकल्प दशा है। क्योंकि निर्विकल्प दशा में भी ज्ञानी, ज्ञेयों को जानने या नहीं जानने की रुचि नहीं करते। सहजरुप से जो भी ज्ञेय ज्ञान में जानने में आता है, उसे जानते तो हैं, उस समय भी अनुभूति तो अपने ज्ञान स्वभाव की ही करते हैं। आत्मा अपने उत्पाद-व्यय-धौव्य की मर्यादा को छोडकर परज्ञेय में जाता ही नहीं है। वह निरंतर अपने स्वरुप में ही स्थित है। पर एवं पर के विकल्प से भिन्न अपने ज्ञान की अनुभूति हो रही है, इसका स्वीकार करना ही प्राप्त की प्राप्ति है।

१२. ज्ञान ही त्याग है

ज्ञान ही प्रत्याख्यान है अर्थात् ज्ञान ही त्याग है। त्याग का सम्बन्ध देह के साथ मानने वाला जीव मिथ्याद्रष्टी है। इस मिथ्या मान्यता के कारण ही जीव ज्ञान स्वभाव की अनुभूति तक पहुँच नहीं पाता।

रात्रि में भोजन का त्याग करना एवं दिन में भी छने हुए पानी को ग्रहण करना धर्म नहीं है। उक्त क्रिया का सम्बन्ध देह के साथ है, आत्मा का त्याग धर्म देह की अपेक्षा नहीं रखता है। आत्मा त्रिकाल ज्ञान स्वभावी है, अतः आत्मा त्रिकाल प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग स्वभावी है।

वास्तव में ग्रहण एवं त्याग के विकल्प ही अत्याग है। ग्रहण एवं त्याग के विकल्प रहित आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति ही त्याग धर्म है। विकल्प को छोडने का विकल्प भी विकल्प को ग्रहण की सिद्धि करता है। भगवान आत्मा त्रिकाल विकल्प से भिन्न ज्ञायक ही है, फिर भी वह स्वयं को ग्रहण एवं त्याग के विकल्परुप मानता है। इसी अपराध के फल में अनादिकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है।

अज्ञानी जीव उन्हीं पर पदार्थो के त्याग को त्याग मानकर मिथ्यात्व पुष्ट करता है, जिन परपदार्थो को आत्मा ने कभी ग्रहण ही नहीं किया था। एक ज्ञान स्वभाव को ग्रहण करने पर समस्त विकल्प सहज ही विलीन हो जाते हैं।

ज्ञानी परिग्रह को छोडते नहीं है, बल्कि परिग्रह से भिन्न ज्ञायक का अनुभव करते हैं। ज्ञायकभाव की अनुभूति के काल में, मैं पर से भिन्न ज्ञायक हूँ, ऐसा भी अनुभव नहीं होता। वहाँ तो मात्र एवं मात्र स्वभाव का ही निर्विकल्प अनुभव होता है।

स्वभाव को त्याग नहीं सकते एवं परभाव को ग्रहण नहीं कर सकते, ऐसा जानने वाले ज्ञानी को ही स्वभाव का ग्रहण है एवं परभाव का त्याग है।

१३. उपयोग कभी नहीं भटकता

आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग लक्षण आत्मा को छोडकर कहीं नहीं जाता और जा भी नहीं सकता। जिसप्रकार आँख समुद्र को देखती तो है, परन्तु वह शरीर को छोडकर समुद्र में चली नहीं जाती, उसीप्रकार उपयोग जगत के ज्ञेयों को जानता तो है, परन्तु उपयोग आत्मा को छोडकर जगत के ज्ञेयों में मिल नहीं जाता।

जगत के ज्ञेयों की रुचि वाले जीवों को ऐसा लगता हैं कि उपयोग ज्ञेयों में भटकता है, परन्तु ज्ञान स्वभाव की रुचि वाले जीवों को तो उपयोग में, उपयोग ही अनुभव में आता है। जैसे - गुड दुकान में है, गुड धर में है, गुड रसोईघर में है, गुड डिब्बे में है, परन्तु परम सत्य तो यह है कि जहाँ जहाँ मीठापना है, वहीं गुड है। इसीप्रकार **ज्ञायक लोक में है, ज्ञायक मध्यलोक में है, ज्ञायक जम्बुद्वीप में है, ज्ञायक देह में है परन्तु परम सत्य तो यह है कि जहां जहां ज्ञान है, वहीं ज्ञायक है।**

कोई व्यक्ति अपना दर्पण लेकर किसी के घर के सामने जाये और किसी का घर उस व्यक्ति के दर्पण में प्रतिबिंबित हो, तो वह व्यक्ति किसी के घर का मालिक नहीं हो जाता। उसी प्रकार **आत्मा के ज्ञानरुपी दर्पण में जगत के ज्ञेय प्रतिबिंबित होने से आत्मा उन ज्ञेयों का स्वामी नहीं हो जाता, आत्मा तो अपने ज्ञान स्वभाव का स्वामी है। अपने स्वभाव का स्वामी कहने में क्या दम है? आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।**

जिसप्रकार घी का स्वभाव ढल जाना है परन्तु यदि घी खीचडी में ढल जाये तो उसके बाद घी कहीं भी नहीं ढलता है। उसीप्रकार जो ज्ञान पर्याय त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक में ढलती है, उसके बाद वह ज्ञान पर्याय अन्य कहीं पर भी नहीं ढलती है। आशय यह है कि स्थिर द्रव्य में स्थिर होने वाली अस्थिर पर्याय भी द्रव्य की तरह स्थिर हो जाती है। **उपयोग में उपयोग है, उपयोग क्रोधादि भावों में नहीं है। उपयोग स्वभाव में एकत्वपूर्वक होने वाली यथार्थ श्रद्धा ही कालांतर में योग रहित सिद्ध दशा प्रकट होने का कारण होती है।**

१४. द्रष्टि एवं ज्ञान

साधक जीव पर्याय की शुद्धि के लक्ष्य से पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है। जब उसे द्रव्य के आश्रय से शुद्ध पर्याय प्रकट होगी, तब उसकी द्रष्टि तो द्रव्य पर ही होगी, शुद्ध पर्याय पर भी नहीं। सुख की पर्याय प्रकट हो, इस लक्ष्य से आत्मा पर द्रष्टि करने वाले साधक की द्रष्टि सुख पर्याय पर भी जाये, तो सुख की पर्याय टिकती नहीं है। सुख की पर्याय तो त्रिकाली आत्म द्रव्य पर द्रष्टि करने पर ही टिकती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए द्रष्टि एवं ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में यथार्थ ज्ञान होना साधक के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य भी है।

आत्मसाधना के साधक जीव को यह बात हंमेशा याद रखनी चाहिए कि द्रष्टि का विषय एक मात्र त्रिकाली ध्रुव आत्म द्रव्य है और ज्ञान का विषय पर्याय सहित द्रव्य है। जब पर्याय से द्रष्टि छूट जाती है और एक मात्र द्रव्य पर द्रष्टि होती है, तब पर्याय में व्यक्त होने वाली शुद्धता द्रष्टि में नहीं होने पर भी शुद्ध पर्याय सहित प्रमाण का विषयभूत आत्मद्रव्य ज्ञान में जानने में आता है।

यदि एक मात्र शुद्ध द्रव्य को ही द्रव्य मान लिया जाये, तो साधक को शुद्ध द्रव्य कभी-भी नहीं मिलेगा। जब भी शुद्ध द्रव्य की प्राप्ति होगी, तब अशुद्ध पर्याय के साथ में ही होगी। ज्ञानी अशुद्ध पर्याय सहित द्रव्य को जानकर भी शुद्ध द्रव्य स्वभाव पर ही द्रष्टि करते हैं।

जिसप्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध सोने को ही सोना जाने, माने और सोने की खदान में सोना खोजने जाये, तो उसे शुद्ध सोना कहीं भी नहीं मिलेगा। उस व्यक्ति को चाहिए कि वह शुद्ध सोने को तो द्रष्टि में रखे कि सोने का स्वभाव पीला होता है, साथ ही जो पीली नहीं है बल्कि मिट्टि आदि अशुद्धता मिश्रित है ऐसे सोने को भी ज्ञान में जाने। खदान में जाते वक्त उसकी द्रष्टि में शुद्ध सोना ही होना चाहिए, परन्तु उसके ज्ञान

में अशुद्धता मिश्रित शुद्ध सोना होना चाहिए। उसीप्रकार **रागादिभाव से भिन्न आत्मा शुद्ध है, ऐसा द्रष्टि में मानना और रागादिभाव सहित आत्मा होता है ऐसा ज्ञान में जानना।**

वहाँ इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि **ज्ञान का विषय तो प्रतिसमय पलटता रहता है, क्योंकि द्रव्य पर द्रष्टि करने पर पर्याय निरंतर अशुद्ध से शुद्धरुप पलटती है, परन्तु द्रष्टि का विषय तो नित्य एकरुप ही रहता है। जो जीव द्रष्टि के विषय को ही मानता है, वह भी एकांत द्रष्टि है, साथ ही जो जीव ज्ञान के विषय को ही मानता है, वह भी एकांत द्रष्टि है। द्रष्टि एवं ज्ञान इन दोनों विषयो का स्वीकार करना ही अनेकांत में अनेकांत है।**

जिसप्रकार क्रिकेटर का लक्ष्य में ख्याति एवं धनलाभ आदि प्राप्त करना ही होता है, परन्तु खेलते समय उसकी द्रष्टि में गेंद ही है। यह बात सत्य है कि वह अपने लक्ष्य को क्रिकेट खेलते समय भूला नहीं है, परन्तु अपने लक्ष्य पर भी द्रष्टि जाये, तो लक्ष्य की प्राप्ति नही होगी। यदि वह क्रिकेटर को खेलते समय गेंद से द्रष्टि हटकर धन पर द्रष्टि जाये अर्थात् लक्ष्य ही द्रष्टि में आ जाये तो वह अच्छी तरह खेल नहीं पायेगा और आउट हो जायेगा। उसीप्रकार साधक को मोक्ष के लक्ष्य से आत्मा पर द्रष्टि होती है। परन्तु साधनाकाल में मोक्षरुपी लक्ष्य पर भी द्रष्टि जाये, तो मोक्षरुपी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि मोक्ष पर द्रष्टि करना भी विकल्प ही है। आत्मा पर द्रष्टि करने से ही मोक्षरुपी लक्ष्य मिलता है। **द्रव्य पर द्रष्टि करने से पर्याय निर्मल होती है, शुद्ध पर्याय पर द्रष्टि करने से भी पर्याय मलिन ही होती है।**

आशय यह है कि **कर्म कर, फल की इच्छा मत कर। आत्मद्रव्य पर द्रष्टि कर, मोक्ष का विकल्प भी मत कर।** पर हां, आत्मतत्त्व पर द्रष्टि करने से पहले मोक्ष का निर्णय अवश्य कर। मोक्ष फल का निर्णय आत्मसाधना में साध्य की प्राप्ति का महत्वपूर्ण कदम है।

किसी नायक का लक्ष्य धन कमाना है, उसे रोने का किरदार निभाना है, जब वह नायक रोता है, तब भी उसकी द्रष्टि में तो धन ही है। परन्तु यदि रोते समय वह धन पर द्रष्टि करेगा, तो रोना बन्द हो जायेगा और हँसना

शुरु हो जायेगा। उसे अपने लक्ष्य को पाने के लिए उस समय तो अलक्ष्य की तरह लक्ष्य को भी द्रष्टि में नहीं लेना होगा। उसीप्रकार **सुख का लक्ष्य द्रष्टि में आ जाये, तो भी द्रष्टि आत्मा से हट जाती है। सुख पर द्रष्टि करने से सुख प्रकट नहीं होता, बल्कि आत्मा पर द्रष्टि करने से सुख प्रकट होता है।**

साधक को यह बात अच्छी तरह से समज़ लेनी चाहिए कि जब भी द्रव्य जानने में आयेगा, तब पर्याय सहित ही जानने में आयेगा। परन्तु पर्याय से भिन्न द्रष्टि में आयेगा, तब ही अभेद निर्विकल्प आत्मानुभूति होगी।

द्रव्य को पर्याय से भिन्न करने का भाव मिथ्यात्व एवं कषाय है और द्रव्य को पर्याय से भिन्न द्रष्टि में लेना सम्यग्दर्शन है। मिथ्यात्व एवं कषाय ही संसार का मूल है और सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। यही अपूर्व धर्म है। ऐसा अलौकिक धर्म उसे प्रकट होता है जिस आत्मा ने निज शुद्धात्मा को देहादिक संयोगो से भिन्न जाना हो, माना हो और निज शुद्धात्मा का अनुभव किया हो। स्वयं को शुद्धात्मा मानने पर जगत का प्रत्येक जीव शुद्धात्मा ही द्रष्टि में आता है। सम्यग्द्रष्टी की द्रष्टि संयोग एवं संयोगीभावों से भिन्न त्रिकाली शुद्ध स्वभाव पर ही होती है।

जिस जीव की द्रष्टि में द्रव्य और ज्ञान में पर्याय सहित द्रव्य होता है, उस जीव की परिणति निर्मल होती है। यहाँ द्रष्टि अर्थात् दर्शन, ज्ञान अर्थात् ज्ञान और परिणति अर्थात् चारित्र। ये रत्नत्रय की एकता ही मोक्षमार्ग है, यही साधक जीव की साधना है।

साधक का लक्ष्य आत्मा नहीं, बल्कि मोक्ष है। आत्मा द्रष्टि का विषय है, मोक्ष द्रष्टि का विषय नहीं है बल्कि ज्ञान का विषय है, मोक्ष जीव का लक्ष्य है। अतः तत्त्वों के स्वरुप निरुपण में जीवतत्त्व को ज्ञेय और मोक्ष तत्त्व को सर्वथा उपादेय कहा है। अतः **जो जीव समस्त अजीव से भिन्न अपने एकपने का अनुभव करता है, उस जीव को आश्रव एवं बन्ध से सहज निवृत्ति हो जाती है। संवर एवं निर्जरा प्रारम्भ होते हैं और वही साधक अपना साध्य मोक्ष प्राप्त करता है।**

१५. होना सुख या दुःख का कारण नहीं

जैसे कोई व्यक्ति समुद्र की लहरों पर स्थित होकर समुद्र के अस्थिरपने का ही अनुभव करता है, यद्यपि गहराई में जाने पर उसे शान्त समुद्र का अनुभव हो सकता है, परन्तु वह तरंग की आसक्ति के वशीभूत होकर शांत समुद्र का अनुभव नहीं कर सकता, वहीं कोई दूसरा व्यक्ति समुद्र की गहराई में जाकर समुद्र के शान्त स्वभाव का ही अनुभव करता है, चूंकि जहां पर वह व्यक्ति स्थित है, उसके उपरी भाग पर समुद्र की तरंगे होने पर भी वे तरंगे इस व्यक्ति के शांत अनुभव में बाधक नहीं होती।

मिथ्याद्रष्टी और सम्यग्द्रष्टी दोनों प्रकार के जीवों का द्रव्य स्वभाव तो शुद्ध है और पर्याय में राग भी हैं, इतनी साम्यता होने पर भी मिथ्याद्रष्टी दुःखी है और सम्यग्द्रष्टी सुखी है। मिथ्याद्रष्टी रागादि भावरुप मलिन पर्याय की तरंगो में एकत्व करता हुआ उन्हीं का अनुभव करता है और त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव की गहराई तक नहीं पहुँचता, फलस्वरुप वह दुःख का ही अनुभव करता है। सम्यग्द्रष्टी जीव अपने स्वभाव की गहराई में जाकर एक मात्र त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक का अनुभव करते हैं और रागादि भावरुप मलिन पर्याय पर द्रष्टि नहीं करते हैं, अतः वे ज्ञायक के सुख का ही अनुभव करते हैं, रागादि भावरुप मलिन पर्याय ज्ञानी को सुख की अनुभूति में बाधक नहीं होती।

सर्वत्र द्रष्टि की ही प्रधानता है। कोई व्यक्ति आपको पापी मानता है, तो आप कहेंगे कि उस व्यक्ति की द्रष्टि मेरी पर्याय पर ही है, वह व्यक्ति मेरे द्रव्य की शुद्धता तो नहीं देखता। यदि वह मेरे शुद्ध द्रव्य को देखता तो समज़ता कि वर्तमान में भी मैं शुद्ध हूँ। भाई! आपको भी यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि आपने उसे किस रुप में देखा? उसने आपको पापी माना, आपको पापी मानना, यह भी उस व्यक्ति की पर्याय ही तो है! **जिनकी द्रष्टि पर्याय पर है ऐसे पर्याय द्रष्टि वाले जीवों को भी पर्याय**

से भिन्न शुद्ध द्रव्य के रुप में जानना एवं मानना ही द्रव्यद्रष्टि है। आपको पापी मानने वाले जीवो को भी परमात्मा मानना ही द्रव्यद्रष्टि है। पर्याय से एकत्व छूटने पर ही प्रत्येक आत्मा को परमात्मा माननेरुप अपूर्व पर्याय प्रकट होती है।

जिसने एक समय के लिए भी स्वयं को परमात्मा माना, वह अनन्त काल तक स्वयं को परमात्मा मानेगा, क्योंकि जीव के पास कभी-भी वर्तमान काल का एक समय ही तो होता है, भूतकाल एवं भविष्यकाल तो उसके हाथ में है ही नहीं। **भूतकाल तो सपना है एवं भविष्यकाल तो कल्पना है, एक मात्र वर्तमानकाल ही अपना है, इस अमूल्य वर्तमानकाल की एक समय की पर्याय में त्रिकाली भगवान की अनुभूति करना ही वर्तमानकाल की सार्थकता है।**

मनुष्य भव का आदि है और मनुष्य भव का अन्त है, ऐसे मनुष्य में जिसका आदि और अन्त नहीं ऐसे भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित करना ही मनुष्य भव की सार्थकता है। **आत्मानुभूति हेतु प्राप्त संयोग भविष्य में रहेंगे या नहीं? कदाचित् संयोग रह भी जाये, परन्तु मैं यहाँ इन संयोगो के साथ रहूँगा या नहीं? कदाचित् संयोग भी रह जाये और मैं भी यहाँ रहूँ परन्तु आत्मानुभूति करने के भाव रहेंगे या नहीं? इसलिए परिणामो का लाभ उठाकार शीघ्रातिशीघ्र आत्महित कर लेना चहिए।**

जो जीव स्वयं को पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव शुद्ध भगवान आत्मा मानता है, वह जीव जगत के समस्त जीवों को भी पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव शुद्ध भगवान आत्मा मानता है। जगत तो दर्पण है, आप जैसे होंगे, आपको जगतरुपी दर्पण में ऐसा ही अनुभव होगा। मोही व्यक्ति जहाँ भी जायेगा, वह मोह-राग-द्वेष के विषयों को सहज ही खोज लेगा। उसे निर्जन वन में जाकर भी शहर की ही आवाज सुनाई देगी।

जगत के प्रत्येक जीव को शुद्धात्मा के रुप में मानने का अभ्यास नहीं करना है, बल्कि जो स्वयं को पर्याय से पार त्रिकाली ध्रुव शुद्धात्मा मानता है, उसे सभी जीव सहज ही शुद्ध जानने में आते हैं, मानने में आते हैं।

१६. ज्ञान से सुख

आत्मा के अनंत गुणों में एक सुख गुण ही ऐसा गुण है, जिसकी प्राप्ति संसार के सभी जीव चाहते हैं। यह जरुरी नहीं है प्रत्येक जीव ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो या चारित्र प्रकट करना चाहते हो, परन्तु तीन लोक में रहने वाले सभी जीव सुख की प्राप्ति करना तो अवश्य चाहते हैं।

सुख की चाह करने पर भी अज्ञानी जीव को आज तक सुख की प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि अनादि काल से इस जीव ने सुख की चाह की और दु:ख ही पाया। यदि सुख की चाह करने से दु:ख मिलता है, तो दु:ख की ही चाह करो, जितना हो सके शरीर को कष्ट दो, तो अवश्य सुख की प्राप्ति होगी। अत: वे व्रत, तप, उपवासादि करके शरीर को क्षीण कर देते हैं।

जिसप्रकार कोई बच्चा लेखनी के माध्यम से लिखता है। लिखते-लिखते जब लेखनी खराब हो गई और उससे लिखा नहीं जा सका, तब वह बच्चा गुस्से होकर जोर से लेखनी को जमीन पर फेंक देता है, तोड देता है। पहले उसे लेखनी में राग था, अब लेखनी में द्वेष हो गया। उसीप्रकार देह में सुख की अपेक्षा रखने वाला अज्ञानी देह में सुख नहीं मिलने से देह को क्षीण करने लगता है। वह अज्ञानी देह में राग छोडकर द्वेष करने लगता है, फलत: दु:खी ही होता है। वह मानता है कि सुख की चाह से दु:ख और दु:ख की चाह से सुख मिलता है। ज्ञानी उन्हें कहते हैं कि सुख की चाह करने से तो दु:ख मिलता है, साथ ही दु:ख की चाह करने से भी दु:ख ही मिलता है। चाह ही दु:ख का मूल कारण है, चाहत ही दु:ख है।

निराकुलता ही सुख का लक्षण है और ज्ञान ही निराकुल सुख की प्राप्ति का एक मात्र साधन है। यहाँ जिज्ञासु जीव को यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि ज्ञान यदि सुख का कारण है तो ज्ञान में ऐसा क्या है कि जानने मात्र से ही जीव को सुख की अनुभूति होती है?

ज्ञानी को चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से रागादि विकल्प उत्पन्न भी होते हैं और विकल्प के कारण दु:ख भी होता है फिर भी ज्ञानी सुखी हैं। हां, विकल्प एवं दु:ख के काल में भी ज्ञानी सुखी हैं, क्योंकि ज्ञानी विकल्प एवं विकल्प से होनेवाले दु:ख को अपना स्वरुप नहीं मानते। ज्ञानी तो स्वयं को ज्ञायक ही जानते हैं, मानते हैं और ज्ञायक में ही स्थिर होते हैं। **कर्मोदय के निमित्त से जो संयोग मिलते हैं, उन संयोगो को उदयगत जानकर उसमें कर्तृत्वभाव नहीं करना ही जागृति है।** लोक में कहते हैं कि जिस पर अपना अधिकार नहीं है, उसे भी अपना मानना अनीति है। अध्यात्म मार्ग में तो यहाँ तक कहते हैं कि जिस वस्तु के मिलने का कर्मोदय वर्तमान में नहीं है फिर भी उस वस्तु को वर्तमान में पाने की आकांक्षा ही अनीति है और कदाचित् कर्मोदय से किसी परपदार्थ का संयोग हो जाये, तब भी उसे अपना मानना यह मिथ्यात्व नाम महापापरुप अनीति है। **ज्ञानी तो संयोगो के काल में भी संयोग एवं संयोगीभावों से भिन्न सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव करते हैं।**

जब किसी ज्ञेय को जानकर दु:ख का वेदन हो, तब यह जागृति अवश्य रखनी चाहिए कि मुझे दु:ख का वेदन हुआ ही नहीं बल्कि अपने ज्ञान का ही वेदन हुआ है। ज्ञान का वेदन ही मेरा वेदन है। जैसे- शरीर में पीडा होने के कारण दु:ख होता है, तब शरीर की पीडा, ज्ञान का ज्ञेय है और दु:ख भी, ज्ञान का ज्ञेय ही है। वे दोनों ही परज्ञेय है। वे दोनों ही मेरे ज्ञान स्वभाव में समाहित नहीं है। दु:ख ज्ञान में जानने में आने से यदि ज्ञान स्वयं परिणमित होकर दु:खमय हो जाये, तो ऐसा जानना चाहिए कि मैं दु:खी हुआ। परन्तु ज्ञान तो नित्य ज्ञानरुप ही रहता है, अत: मैं कभी-भी दु:खी नहीं होता हूँ।

जिसप्रकार दु:ख ज्ञेय है, उसीप्रकार इन्द्रिय सुख भी परज्ञेय ही है। इन्द्रिय सुख को जानने मात्र से मैं क्षणभर के लिए भी सुखी नहीं होता हूँ क्योंकि मैं तो स्वभावत: त्रिकाल सुखी ही हूँ, क्योंकि आत्मा के जिस प्रदेश पर ज्ञान है, उसी प्रदेश पर सुख है। जिसप्रकार ज्ञान प्रदेश पर आकुलता नहीं है, उसी प्रकार सुख प्रदेश पर आकुलता नहीं है। आत्मा के किसी भी प्रदेश पर आकुलता नहीं है। आत्मा आकुलता रहित निराकुल शुद्ध तत्त्व है।

ज्ञानी को परज्ञेयों से भिन्न ज्ञान स्वभाव की अनुभूति से सुख की अनुभूति भी होती है। अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख की अनुभूति नहीं, बल्कि ज्ञान एवं सुख की अनुभूति होती है। क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञान एवं अतीन्द्रिय सुख में भी इन्द्रिय ज्ञान एवं इन्द्रिय सुख का विकल्प उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान एवं सुख को इन्द्रिय एवं अतीन्द्रिय आदि भेद में विभाजित न करके मात्र ज्ञान एवं सुख स्वरुप ही जानना चाहिए।

जब आप सोचते हैं कि मुझे आज प्रमाद के कारण कोई भी काम करने में मन नहीं लग रहा है। प्रमाद ज्ञान पर्याय में जानने में आने के कारण आप प्रमादी नहीं हो गये। प्रमाद भी ज्ञान का ज्ञेय है। केवलज्ञान में सम्पूर्ण विश्व जानने में आने के कारण केवलज्ञानी विश्व के स्वामी नहीं हो जाते। उसीप्रकार प्रमाद का भाव ज्ञान में जानने में आने से आप प्रमादी नहीं हो जाते। समुद्र आपके ज्ञान में जानने में आता है, इसलिए आप समुद्र नहीं हो जाते, बस वैसे ही प्रमादरुप ज्ञेय को जानने मात्र से आप प्रमादी नहीं हो जाते। यही कारण है कि **ज्ञानी अपने को प्रमाद एवं अप्रमाद ऐसे दोनों भावों से भिन्न ज्ञायक जानते हैं, मानते हैं और अनुभव करते हैं।**

जैसे पवन के निमित्त से समुद्र की लहर उछलती है, समुद्र की लहर के निमित्त जहाज भी डोलायमान होता है, जहाज के निमित्त से जहाज में बैठने वाले मुसाफिर भी चलायमान होते हैं। परन्तु मैं भगवान आत्मा पवन, समुद्र, जहाज और मुसाफिर आदि समस्त ज्ञेयो से भिन्न हूँ, उन्हें जानने मात्र से उनका स्वामी नहीं हो जाता। उसीप्रकार कर्मोदयरुपी पवन के निमित्त से रागादि विकारीभावरुपी तरंगे उछलती है, रागादिभावरुप तरंग के निमित्त से शरीररुपी जहाज की क्रिया भी होती है, शरीरादि की क्रिया के निमित्त से परिवारजनरुपी मुसाफिर का कार्य भी होता है, परन्तु यह बात खास याद रहनी चाहिए कि मैं भगवान इन सभी ज्ञेयों से भिन्न ज्ञायक हूँ।

अज्ञानी को ज्ञेय में एकत्व होने से वे दुःखरुप ज्ञेय में एकत्व करके दुःखी होते हैं और ज्ञानी को ज्ञान में ही एकत्व होने से वे ज्ञान का एकत्वपूर्वक अनुभव करके सुखी होते हैं। **ज्ञानी का एकत्व ज्ञान में होने से किसी अवस्था के काल में ज्ञानी तो मात्र ज्ञानी हैं।**

१७. पर्याय की तुलना द्रव्य के साथ

मान कषाय के कारण मोहांध व्यक्ति सदैव अपने को महान दिखाने के लिये अपनी तुलना उन्हीं लोगों से करना चाहता है, जिन्हें वह अपने से हीन मानता हो। यहाँ तक कि वह अपनी लकीर को बड़ी दिखाने के लिए दूसरों की लकीरों को छोटी करने का प्रयास करता है। **अहंकार के वशीभूत वह अज्ञानी दूसरों की लकीरों को छोटा करने का प्रयास करते-करते यह बात भूल ही जाता है कि उसके जीवन की लकीर भी निकट काल में समाप्त होने वाली है।**

साधक अवस्था में यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि साधक को अपनी वर्तमान पर्याय की तुलना किसी अन्य आत्मा की पर्याय के साथ नहीं करना है। यहाँ तक कि अपनी वर्तमान पर्याय की तुलना अपनी ही भूतकाल की पर्याय के साथ भी नहीं करना है। अपनी वर्तमान पर्याय को अपनी ही भूतकाल की पर्याय के साथ तुलना करने पर जीव का पुरुषार्थ छूट जाता है।

ज्ञानी कभी ऐसा विचार नहीं करते कि पहले तो मैं अनंतानुबंधी कषाय युक्त था परन्तु अब अनंतानुबंधी कषाय का अभाव हो चुका है। ऐसा विचार करने से जीव आंशिक शुद्ध पर्याय में ही संतुष्ट हो जाता है। द्रव्य स्वभाव में शेष तीन कषाय चौकडी का भी सद्भाव नहीं है, तो पर्याय में तीन कषाय चौकडी का सद्भाव भी क्यों? यही कारण है कि ज्ञानी विशुद्धि की नहीं बल्कि परम विशुद्धि की प्राप्ति की कामना करते हैं। **शुद्ध द्रव्य के समान ही पर्याय का परिपूर्ण शुद्ध प्रगट होने का नाम ही आत्मसाधना है।**

जब द्रव्य के साथ भी पर्याय की तुलना छूट जाती है, तब द्रव्य एवं पर्याय का अभेद मिलन होता है। द्रव्य एवं पर्याय का अभेद हो जाना ही निर्विकल्प आत्मानुभूति है।

१८. द्रव्य शुद्ध है तो फिर पर्याय अशुद्ध क्यों?

द्रव्य अनादि-अनन्त शुद्ध ही है। शुद्ध द्रव्य में से अशुद्ध पर्याय उत्पन्न होती नहीं और अशुद्ध पर्याय शुद्ध द्रव्य में मिलती ही नहीं। शुद्ध द्रव्य में से शुद्ध पर्याय ही उत्पन्न होती है और व्यय होकर शुद्ध द्रव्य में ही मिलती है। द्रव्य त्रिकाल सत् है, पर्याय क्षणिक सत् है। शुद्ध द्रव्य में से उत्पन्न होने के बाद पर्याय एक समय के लिए पर द्रव्य का आश्रय लेती है, इसलिए एक समय के लिए ही अशुद्ध होती है। जब वह अशुद्ध पर्याय पुनः द्रव्य में मिलती है, तब पर द्रव्य का लक्ष्य तो बाहर ही छोड देती है, अतः द्रव्य में मिलते समय पर्याय अशुद्ध होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, फिर भी वह आग के संयोग के निमित्त से उष्ण होता है, ऐसे ही जीव द्रव्य स्वभाव से शुद्ध होने पर भी पर द्रव्य के निमित्त से पर्याय में अशुद्ध होता है। छह द्रव्य में से जीव और पुदगल इन दो द्रव्यों में वैभाविक गुण होने से वे पर के निमित्त में जाकर अशुद्धरुप परिणमित होते हैं। सिद्ध भगवान एवं पुदगल परमाणु पर के निमित्त में नहीं जाते, अतः सिद्ध भगवान एवं पुदगल परमाणु को वैभाविक गुण का शुद्ध परिणमन होता है। सिद्ध भगवान शुद्ध होकर पुनः अशुद्ध नहीं होते, जबकि पुदगल परमाणु का अन्य परमाणु से बन्ध होकर अशुद्ध परिणमन हो सकता है। सिद्ध भगवान का शुद्ध परिणमन सादि-अनन्त और पुदगल परमाणु का शुद्ध परिणमन सादि-सांत होता है।

जिसप्रकार पानी को जैसे ही आग के संयोग से अलग कर दिया जाये, तो वह अपने स्वभावरुप सहज ही शीतल हो जायेगा, उसीतरह पर पदार्थ से द्रष्टि हटाकर आत्मस्वभाव में स्थिर करने पर आत्मा की पर्याय में भी द्रव्य स्वभाव जैसी ही शुद्धता प्रकट होगी।

जैसे - पानी गरम होने पर भी अपने शीतल स्वभाव को नहीं छोडता। गरम पानी को भी आग पर डालेंगे तो वह गरम पानी भी आग को बुझाने

का काम ही करेगा अर्थात् गरम पानी भी अपना शीतल स्वभाव नहीं छोडता है। ऐसे ही रागादि विभाव की उत्पत्ति के काल में भी आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं छोडता। रागादि भावरुप अशुद्ध पर्याय का ज्ञान भी शुद्ध पर्याय में ही होता है।

अज्ञानभाव आत्मा की अशुद्धता है, फिर भी यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि अज्ञान में भी ज्ञान है अर्थात् अशुद्धता में शुद्धता ही समाहित है। जिसप्रकार ज्ञानी अज्ञान में भी शुद्ध ज्ञान का अनुभव करते है, उसीप्रकार दु:ख में भी सुख का अनुभव करते हैं। जैसे ज्ञान गुण का ही परिणमन अज्ञान है, ऐसे सुख गुण का ही परिणमन दु:ख है। **अज्ञानता को भी विशेष भेदरुप न देखने पर एक सामान्य ज्ञान का ही अनुभव होता है। क्योंकि अज्ञानता भी ज्ञान गुण की ही पर्याय है, उसीप्रकार दु:ख को भी विशेष भेदरुप न देखने पर एक सामान्य सुख का ही अनुभव होता है। क्योंकि दु:ख भी सुख गुण की ही पर्याय है।**

अज्ञान एवं दु:ख आत्मा के स्वभाव का ही परिणमन है, उसीप्रकार राग-द्वेष के भाव भी आत्मा का चारित्र गुण का परिणमन है। वहाँ भी राग-द्वेष के भाव विशेष को द्रष्टि में नहीं लेने पर मात्र चारित्र ही द्रष्टि में आता है। चारित्र गुण का सामान्य परिणमन ही द्रष्टि में आता है।

जिसकी द्रष्टि मीठाश पर है, उसे पर्याय का ही अनुभव होता है। जिसकी द्रष्टि सामान्य रस मात्र पर है, वह कडवा रस चखते समय भी ऐसा ही अनुभव करता है कि मैंने रस का अनुभव किया। रस की किसी भी पर्याय में रस मात्र का अनुभव करने वाला रस विशेष में रस नहीं रखता इसलिए रस विशेष के पलटने पर भी दु:खी नहीं होता। उसीप्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान विशेष का अनुभव करने वाले जीव को पर्याय का ही अनुभव होता है। जिसकी द्रष्टि सामान्य ज्ञान मात्र पर है, वह जीव ज्ञेयों को जानते हुए भी सामान्य ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करता है। ज्ञान की किसी भी पर्याय में ज्ञान मात्र का अनुभव करने वाला साधक ज्ञेय विशेष में रुचि नहीं रखता, इसीलिए ज्ञान की पर्याय पलटने पर भी दु:खी नहीं होता।

जिसप्रकार ज्ञान की पर्याय कैसी भी हो, ज्ञानी अपना स्वरुप ज्ञान स्वभाववान होने से स्वयं को ज्ञानी ही मानते हैं, उसीप्रकार सुख की पर्याय दु:खरुप होने पर भी ज्ञानी अपना स्वरुप सुख स्वभाववान होने से स्वयं को सुखी ही मानते हैं। **विशेष के विकल्पों में न जाकर एक मात्र सामान्य का अनुभव करने पर विकल्प का अस्तित्व ही नहीं रहता है। ज्ञानी की द्रष्टि ऐसी निर्मल होती है कि वे विभाव में भी स्वभाव का अनुभव कर लेते हैं।**

उक्त कथन का आशय यह है कि ज्ञेयों के विशेषो में न जाकर एक मात्र ज्ञान सामान्य का अनुभव करो कि जिससे ज्ञेय विशेष में जाने से होने वाले रागादि भावों से भी बचा जा सके। ज्ञेय विशेष की रुचि ही ज्ञान की अरुचि है। क्योंकि सामान्य ज्ञान की सत्ता होने पर भी विषय लोलुपी जीवों को सामान्य ज्ञान भी शुष्क लगता हैं, अत: वे ज्ञेयों के विशेषो में जाकर विकल्पों के प्रवाह में बहते जाते हैं। उनके अंतरंग जीवन में विकल्पों को लगाम ही नहीं है।

द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, परन्तु पर्याय अशुद्ध है। द्रव्य एवं गुण तो परिणमित होते नहीं अत: उनमें पुरुषार्थ भी कैसे करे? पुरुषार्थ तो पर्याय में घटित होता है। **जब जीव ऐसा जानता और मानता है कि द्रव्य शुद्ध है, गुण शुद्ध है, तब पर्याय भी अशुद्ध से शुद्धरुप परिणमित हो जाती है। क्योंकि द्रव्य एवं गुण शुद्धपने का ज्ञान एवं श्रद्धान ही पर्याय की शुद्धि का एक मात्र उपाय है।**

जिसप्रकार अशुद्ध पर्याय के आश्रय से पर्याय में शुद्धि प्रकट नहीं होती, शुद्ध पर्याय के आश्रय से भी पर्याय में शुद्धि प्रकट नहीं होती। एक मात्र शुद्ध द्रव्य के आश्रय से अशुद्ध पर्याय सहज ही शुद्धरुप परिणमित होती है।

आश्रय शब्द का अर्थ सहायता नहीं है। जैसे कोई कमजोर व्यक्ति सहायता हेतु किसी अन्य व्यक्ति के सामने हाथ फैलाता है, ऐसा आश्रय शब्द का अर्थ नहीं समज़ना चाहिए। आश्रय शब्द का तात्पर्य यह है कि जब पर्याय एकत्वपूर्वक द्रव्य में स्थिर होती है और द्रव्य में तन्मय होकर द्रव्य का अभेद अनुभव करती है, तब पर्याय ने द्रव्य का आश्रय लिया, ऐसा कहा जाता है।

१९. एक समय की पर्याय का सामर्थ्य

केवलज्ञान की प्रत्येक समय की पर्याय में त्रिकालवर्ती लोकालोक के समस्त ज्ञेय जानने में आते हैं। जैसा कि, महावीर भगवान की केवलज्ञान की पहले समय की पर्याय में आदिनाथ भगवान सहित अनन्त केवलज्ञानी के केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायें भी जानने में आती है, दूसरे, तीसरे, चौथे आदि अनन्तानन्त समयों में भी आदिनाथ भगवान सहित अनन्त केवलज्ञानी के केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्यायें भी जानने में आती है, प्रत्येक पर्याय में प्रतिसमय त्रिकालवर्ती लोकलोक जानने में आता है। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय भी इतनी सामर्थ्यवान है कि अनन्त केवलज्ञान और केवलज्ञान के अनन्तान्त ज्ञेयों को एक समय में एक साथ स्पष्ट जाने। परन्तु ऐसी सामर्थ्यवान पर्याय भी प्रतिसमय उत्पन्न होती है, व्यय होती है, उसमें भी उत्पाद-व्यय निरंतर होता रहता है। उत्पाद एवं व्यय तो पर्याय का स्वभाव है, फिर वह केवलज्ञान की पर्याय भी क्यों न हो! **केवलज्ञान की अनन्त पर्याय का उत्पाद होता है और अनन्त पर्याय का व्यय होता है, जिस द्रव्य के आश्रय से पर्याय केवलज्ञानरुप परिणमित होती है, वह त्रिकाली ध्रुव, अचलित, अनुपम द्रष्टि का विषय ज्ञायक ही मैं हूँ।**

भगवान महावीर को आज से लगभग २५०० वर्ष पहले केवलज्ञान प्रकट हुआ तब केवलज्ञान प्रकट होने की शक्ति आत्मा में नई उत्पन्न नहीं हुई थी। आत्मा में तो सर्वज्ञत्व शक्ति अनादिकाल से विद्यमान थी वही पर्याय में प्रकट हुई। यदि द्रव्य में अनादि से सर्वज्ञत्व शक्ति नहीं होती तो पर्याय में व्यक्त होती कैसे? आशय यह है कि **प्रत्येक आत्मा शक्ति अपेक्षा त्रिकाल सर्वज्ञ ही है।**

जो स्वयं को वर्तमान में शक्ति अपेक्षा सर्वज्ञ मानता है, उसकी शक्ति पर्याय में भी व्यक्त होती है। इसलिए ऐसा नहीं मानना चाहिए कि जब पर्याय में केवलज्ञान होगा तब मै स्वयं को केवलज्ञानी मानूंगा। अरे भाई! **स्वयं को सर्वज्ञ स्वभावी परमात्मा माने बिना परमात्म पद कदापि प्रकट नहीं होता।**

२०. पर्याय अपेक्षा भी सर्वज्ञ और निगोद में समानता

सर्व जीव सिद्ध समान है। इस कथन का मूलत: अर्थ तो यह होता है कि सर्व जीवों के द्रव्य स्वभाव में ऐसा अनन्त सामर्थ्य है कि सभी जीव सिद्ध पर्याय को प्रकट कर सके। वहाँ सभी जीवों के द्रव्य स्वभाव की समानता सिद्ध भगवान के द्रव्य स्वभाव के साथ नहीं बताई है। यदि द्रव्य स्वभाव की ही समानता बताना हो तो सिद्ध भगवान के स्थान पर निगोद के जीवों के द्रव्य स्वभाव को बता सकते थे। ऐसा कह सकते थे कि सर्व जीव निगोद समान है। परन्तु वहाँ तो सर्व जीव सिद्ध समान है, ऐसा कहा है। क्योंकि सिद्ध भगवान की पर्याय और सभी जीवों के द्रव्य स्वभाव का उस सिद्ध पर्याय प्रकट करने का सामर्थ्य बताने के लिए सर्व जीवों को सिद्ध समान कहा है।

सूक्ष्मद्रष्टि से विचार करने पर सर्व जीवों की पर्याय भी सिद्ध भगवान की पर्याय के समान शुद्ध है। इस कथन का आशय यह है कि जिसप्रकार सिद्ध भगवान की केवलज्ञान की पर्याय में जानने में आनेवाले लोकालोक के ज्ञेय केवलज्ञान की पर्याय में मिल नहीं जाते, उसीप्रकार निगोद की ज्ञान पर्याय में जानने में आनेवाले कोई भी ज्ञेय उनकी ज्ञान पर्याय में मिल नहीं जाते। **जाननेरुप परिणमित होने के लिए ज्ञान को किसी भी परज्ञेय की अपेक्षा नहीं होती। केवलज्ञान हो या निगोद का ज्ञान हो, ज्ञान तो सिर्फ जानने-जानने रुप ही परिणमित होता है। जाननेरुप परिणमन सभी जीवों का एक समान ही होता है।**

ज्ञेयों को गौण करके ज्ञानादि गुणों का सामान्य परिणमन तो जैसा केवली भगवान के होता है, वैसा ही सामान्य जानना-जानना आदि परिणमन निगोद में भी होता है। सर्वज्ञ और अल्पज्ञ ऐसे भेद भी ज्ञेयों की

ओर द्रष्टि करने पर ही उत्पन्न होते हैं। लोकालोक भी ज्ञेय ही है और अक्षर का अनन्तवाँ भाग भी ज्ञेय ही है। दोनों ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान सामान्य अभेद है। वह मात्र जानने-जाननेरुप मात्र परिणमित हो रहा है।

जब तक जीव को ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञान का भेदरुप अनुभव होता है, तब तक उसे विकल्प भी उत्पन्न होते रहते हैं एवं उन विकल्पों में अपनापन स्थापित करने के कारण ही विकल्पों की परम्परा चलती रहती है।

जब जीव ज्ञेयों के भेद से भी जिसका भेदन नहीं होता है, ऐसे एक मात्र सामान्य ज्ञान स्वभाव की समीप जाकर अपने को ज्ञानस्वरुप अनुभव करता है, तब वह सहज ही अल्पज्ञ से सर्वज्ञ पद की ओर गतिमान होता है।

सर्वज्ञ के ज्ञान परिणमन का आधार इन्द्रिय नहीं है, उसीप्रकार निगोद के ज्ञान परिणमन का आधार इन्द्रिय नहीं है। कोई भी आत्मा इन्द्रियों के द्वारा जानने में तो आता नहीं, साथ ही इन्द्रियों के द्वारा आत्मा जानता भी नहीं। **सर्वज्ञ हो या निगोद हो, सभी जीव अपने ज्ञान स्वभाव से ही जानते हैं।**

जिन जीवों को पुदगल को जानने की ही रुचि है, उन्हीं जीवों को ऐसा अनुभव होता है कि इन्द्रियों के कारण ज्ञान होता है, यदि इन्द्रिय ही नहीं होगी तो ज्ञान भी नहीं होगा। जैसे कि किसी जीव को वर्ण देखने में सुखबुद्धि होने से उसे चक्षु इन्द्रिय की महिमा आती है और वह मानता है कि चक्षु इन्द्रिय नहीं होगी, तो ज्ञान भी नहीं होगा। क्योंकि उस जीव ने वर्ण के ज्ञान को ही ज्ञान माना है। इन्द्रिय एवं मन तो मात्र पुदगल को जानने में ही निमित्त होते हैं। ज्ञानी को परद्रव्य में सुखबुद्धि नहीं होने से ज्ञानी इन्द्रियातीत सामान्य ज्ञान स्वभाव का अनुभव करते हैं।

जब जीव ज्ञेयों से निरपेक्ष एक मात्र सामान्य की अनुभूति करता है, तब ज्ञान में झलकने वाले ज्ञेयों के परिवर्तन के कारण उसे आकुलता नहीं होती है। अज्ञानी ज्ञान में भी ज्ञेयों की अनुभूति करता है, अतः ज्ञेयों के परिवर्तन से आकुलित होता है, ज्ञानी मात्र ज्ञान की अनुभूति करते हैं, वे मानते हैं कि जो सामान्य जानने-जाननेरुप परिणमित हो रहा है, वह द्रव्य का ही प्रकट स्वरुप है। ज्ञानी को निरंतर निज स्वभाव की अनुभूति होने से वे पर संयोगो में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना नहीं करते हैं।

२१. द्रव्य को पर्याय की स्पर्शना

किसी भी पर ज्ञेय को महत्ता न देकर ज्ञान स्वभाव की महिमा जागृत होने पर ही ज्ञान पर्याय को द्रव्य की स्पर्शना होती है। **ज्ञान स्वभाव के माध्यम से ज्ञायक तक पहुँचकर मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहने में आत्मा का अनन्त पुरुषार्थ गर्भित है।**

जगत में जो भी कार्य होते हैं, उनमें ज्ञान की ही तो प्रधानता है, वही महिमावान ज्ञान का जानना-जानना कार्य ही मेरा कार्य है। ज्ञान होने के बाद राग-द्वेष के भाव पीछे दौडते-दौडते आते हैं, फिर भी ज्ञान अपना जाननेरुप कार्य छोडता नहीं है। राग और द्वेष की तारतम्यता ज्ञेयों की अस्थिरता की सिद्धि करती है, प्रतिसमय भिन्न-भिन्न ज्ञेयों को जाननेरुप परिणमन आत्मा के ज्ञान के सक्रियपने को सिद्ध करता है।

प्रत्येक जीव में रागादि भावरुप परिणमन के साथ-साथ ज्ञानरुप परिणमन भी निरंतर होता है। परन्तु अज्ञानी को प्रत्येक जीव रागादि भावरुप परिणत ही दिखाई देता है और ज्ञानी को प्रत्येक जीव ज्ञान स्वभावरुप परिणत ही दिखाई देता है। अशुद्धता दिखाई देने का कारण अशुद्धता नहीं है, बल्कि अशुद्धता की रुचि है। **अज्ञानी को अनादि-अनन्त धाराप्रवाह से चलने वाला ज्ञान के परिणमनरुप जानने का कार्य दिखाई नहीं देता, परन्तु एक समय का क्रोध भाव दिखाई देता है। इसी कारण से अज्ञानी को राग-द्वेष और ज्ञानी को वीतरागता प्रकट होती है।**

साधक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी जीव में रागादि कषाय भाव उत्पन्न होते हैं, वह तो उसकी चारित्र सम्बन्धी कमजोरी है। परन्तु उस जीव को रागी मानना, मेरी स्वयं की श्रद्धा सम्बन्धी कमजोरी है, ऐसा जानकर अपने दोष को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो सर्वविदित ही है कि **चारित्र की कमजोरी से पहले श्रद्धा की कमजोरी दूर होती है। पैर**

की बिमारी दूर करने से पहले आँख की बिमारी दूर कर लेनी चाहिए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा करता हो तब ऐसा जानना चाहिए कि वह व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा करने के अपने स्वभाव को व्यक्त करता है और जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की निंदा करता हो तब ऐसा जानना चाहिए कि वह व्यक्ति दूसरे व्यक्ति निंदा करने के अपने स्वभाव को व्यक्त करता है। पहला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के बारे में नहीं, बल्कि अपने बारे में ही बता रहा है कि मैं कैसा हूँ?

ज्ञानी पहले एवं दूसरे उन दोनों व्यक्ति के दोषों को न देखकर ऐसा मानते है कि दोष तो पर्याय में है और पर्याय क्षणिक है। अतः किसी भी जीव को पर्याय द्रष्टि से न देखकर द्रव्य स्वभाव की द्रष्टि से देखना चाहिए। और क्या उन्हें द्रव्यद्रष्टि से देखने से भी मेरा मुक्तिरुपी साध्य सिद्ध होगा? नहीं, कदापि नहीं। प्रत्येक जीव को चाहिए कि परद्रव्य से द्रष्टि हटाकर स्वयं को पर्याय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव शुद्ध ज्ञायकभाव जाने, माने और अनुभव करे, तब ही जीव का आत्महित हो सकता है।

ज्ञानी देह के साथ रहते हैं, फिर भी ज्ञानी की अंतरंग दशा देहातीत होती हैं। **देह से छूटने का नाम मुक्ति नहीं है, बल्कि देह से भिन्न आत्मा मैं स्वयं हूँ, ऐसी निर्विकल्प अनुभूति होने का नाम मुक्ति है।** प्रत्येक जीव को देह से भिन्न, देह रहित देखने पर प्रत्येक जीव सिद्ध परमात्मा दिखाई देता है और प्रत्येक देह को आत्मा से भिन्न, आत्मा रहित देखने पर प्रत्येक देह, मुर्दा दिखाई देता है। ज्ञानी की श्रद्धा में जीवित देह और मृत देह के बीच कोई भेद नहीं होता है।

जब क्षणिक पर्याय त्रिकाली ध्रुव द्रव्य में एकत्व स्थापित करती है, तब क्षणिक पर्याय भी स्वयं को त्रिकाली मानती है, क्योंकि वह मानती है कि मैं ही त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा हूँ। इसी का नाम द्रव्य को पर्याय की स्पर्शना कहते है। पर्याय का द्रव्य में अहंपना स्थापित होने की अपेक्षा से क्षणिक पर्याय भी नित्य हो जाती है। उस क्षण नित्य एवं क्षणिक का भेद भी समाप्त हो जाता है। जब द्रव्य एवं पर्याय अभेद हो जाते हैं, तब वह साधक आत्मा अभूतपूर्व निर्विकल्प आत्मानुभूति को उपलब्ध होता है।

२२. जीव कर्म के फल को वर्तमान में ही भोगता है

अज्ञानी जीव वर्तमान में रागादि भाव करके द्रव्य कर्मों का बंध करता है। उनमें अघाति कर्मों के फल स्वरुप उसे भविष्य में नोकर्म का संयोग-वियोग होता है। अज्ञानी द्रव्यकर्मों के फल में प्राप्त होने वाले नोकर्म को कर्म का वास्तविक फल मानता है, जबकि ज्ञानी तो मानते हैं कि निश्चय से वर्तमान में किये हुए भावों का फल जीव वर्तमान में ही भोगता है, कर्मो का फल भोगने के लिए एक समय के लिए भी इंतिज़ार नहीं करना पडता।

आत्मा में बंधे हुए अनेक प्रकार के द्रव्यकर्म ऐसे होते हैं, जो उदय में आते हैं और आत्मा को सुख या दु:ख होता ही नहीं, क्योंकि आत्मा का उपयोग उस समय उस नोकर्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ में जुडा होता है।

जैसे - किसी जीव को भगवान की भक्ति करने का शुभरागरुप भाव हुआ। शुभभाव के फल में उस जीव को अनेक प्रकार की अनुकूलता प्राप्त हुई, परन्तु उस समय उस जीव का उपयोग उन अनुकूलताओं की ओर गया ही नहीं और कर्म ने अपना फल दे दिया।

ऐसे ही किसी व्यक्ति को अशुभ भाव के फल में पैर में कांटा चुभ जाये, उस वक्त व्यक्ति का उपयोग उस घटना की ओर गया ही नहीं। उस जीव को कर्म ने फल तो दे दिया, परन्तु जीव सुखी या दु:खी नहीं हुआ। कहने का आशय यह है कि भावों की उत्पत्ति के काल में ही आकुलता एवं दु:ख का अनुभव होना ही भावों का फल है। जब जीव को नोकर्म का संयोग-वियोग होता है, तब भी उसे अपने वर्तमान भाव के अनुरुप ही सुख या दु:ख होता है।

यदि अपने स्वभाव का आश्रय लिया हो, तो निधत्ति कर्म हो या निकाचित कर्म हो, जीव को कोई भी कर्म भोगना नहीं पडता। तीर्थंकर भगवान को अतिशय पुण्य का उदय होने पर भी उपयोग स्वभाव में लीन

होने से कोई भी कर्म भोगने नहीं पडते हैं। भगवान तो आत्मा के अनन्त सुख को भोगते हैं, पुण्य एवं पाप के उदय को नहीं।

सार यह है कि जीव अपने वर्तमान परिणामों के कारण ही सुखी और वर्तमान परिणामों के कारण ही दु:खी होता है। पूर्व कर्म का उदय जीव को सुखी या दु:खी नहीं कर सकता। नरक गति में जीव अतिशय सर्दी-गर्मी एवं भूख-प्यास का दु:ख नहीं भोगता है, क्योंकि सर्दी-गर्मी एवं भूख-प्यास तो संयोग मात्र है। नारकी जीव अपने मोह-राग-द्वेष परिणामों के कारण दु:खी होता है।

संयोग जीव का कुछ भी सुधार-बिगाड नहीं कर सकते। जिस जीव को आकुलतारुप क्षणिक सुख भोगना होता है, उस जीव की द्रष्टि प्रतिकूलता पर ही जाती है और जिस जीव को आकुलतारुप दु:ख भोगना होता है, उस जीव की द्रष्टि अनुकूलता पर ही जाती है। जैसे - थाली में चौबीस वस्तुएँ अनुकूल होने पर भी जिस जीव को वर्तमान पर्याय में दु:खी ही होना है, उसकी द्रष्टि जिस दाल में नमक नहीं है, ऐसी पच्चीसवीं वस्तु पर ही जाती है। सिद्धांत यह है कि **दु:खी होने वाले को कोई सुखी नहीं कर सकता और सुखी होने वाले को कोई दु:खी नहीं कर सकता।** अत: जीव स्वयं ही नित्य प्रत्यक्ष आत्मा का आश्रय लेकर अनन्त सुखी हो सकता है।

जिसप्रकार कर्मों के फल को जीव वर्तमान में ही भोगता है, उसप्रकार आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाले पुरुषार्थ का फल भी जीव वर्तमान में ही भोगता है। लोक में भले ही ऐसा कहा जाता हो कि जो जीव एक अंतर्मुहूर्त के लिए आत्मा का ध्यान करता है, वह अनन्त काल के लिए अनन्त सुख को भोगता है। सत्य तो यह है कि वर्तमान पुरुषार्थ का फल वर्तमान में ही मिलता है। भगवान महावीर ने लगभग २५०० वर्ष पहले आत्मा का ध्यान किया था, इसलिए आज अनन्त सुखी नहीं है क्योंकि उस ध्यान का फल तो वे उसी समय भोग चुके थे। भगवान वर्तमान में अनन्त सुखी है, क्योंकि वर्तमान में निजात्मा के ध्यान में लीन है। इस सिद्धांत के कारण ही वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान का पुरुषार्थ अनन्त काल के लिए होता है, भगवान अनन्त वीर्य के धनी है, यह बात सिद्ध होती है।

२३. नित्य प्रत्यक्ष आत्मा

भगवान आत्मा का ज्ञान और भगवान आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है, इसलिए भगवान आत्मा को जानने का कार्य कभी-भी हो सकता है। ज्ञान निरंतर जाननेरुप परिणमित होने से प्रत्यक्ष ही है। परन्तु समस्त परज्ञेयों से भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होने से आत्मा को अव्यक्त कहा है।

अज्ञानी जीव पुदगल पदार्थो में व्यक्त अंश को देखकर अव्यक्त को भी देखने की इच्छा करता है। किसी व्यक्ति के शरीर का वस्त्र रहित व्यक्त अंश को देखकर वस्त्र सहित अव्यक्त अंश को इच्छा ही व्यक्त से अव्यक्त को जानने की वासना है।

ज्ञानी कहते हैं कि तुझे अव्यक्त को जानने की इच्छा है, तो ठीक है। भगवान आत्मा भी तेरे लिए अव्यक्त है, अतः शीघ्रातिशीघ्र सर्वप्रथम तू आत्मा को जान ले। तुझे निरंतर अनुभव में आ रहा है, वह ज्ञान व्यक्त है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव व्यक्त है, परन्तु अन्य अनन्त गुण ज्ञान की तरह व्यक्त नहीं होने से अव्यक्त है। व्यक्त ज्ञान के माध्यम से तू अव्यक्त ज्ञायक को जान सकता है। तू ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँच सकता है। ज्ञायक को जानने पर सारा जगत तेरे ज्ञान में व्यक्त हो जायेगा। वस्तु का स्वरुप ऐसा अद्‌भूत है कि **जब जगत को जानने की इच्छा होती है, तब जगत जानने में नहीं आता और जब जगत को जानने की इच्छा नहीं होती, तब सारा जगत जानने में आता है।**

जीव में उत्पन्न होने वाले विकल्प तो विभिन्न प्रकार के होते हैं। फिर भी प्रत्येक जीव मात्र जाननेरुप ही परिणमित हो रहा है। ऐसा मानने पर निजात्मा में पर जीवों के प्रति होने वाली तरह-तरह की कल्पना टल जाती है। ज्ञानी प्रत्येक आत्मा को समान मानते हैं, उसका मूल कारण यह है कि ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान परिणमन को द्रष्टि में लेने पर प्रत्येक जीव का ज्ञान

परिणमन समान जानने में आता है। ज्ञान का नित्य व्यक्त अनुभव होता है। ज्ञानी ज्ञेयों को गौण करके ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान को ही द्रष्टि में लेते हैं। **ज्ञेयों के भेद अवश्य होते हैं, परन्तु ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञान में भेद नहीं होते हैं। ज्ञेयों के भेद के कारण ज्ञान में भेद जानना विकल्प है और उन विकल्पों में एकत्व करके स्वयं को विकल्प का कर्ता मानना संकल्प है। त्रिकाली ध्रुव नित्य प्रत्यक्ष भगवान आत्मा संकल्प एवं विकल्प से पार है।**

ज्ञेयों की प्रधानता के कारण ज्ञान द्रष्टि में नहीं आता है, उसीप्रकार ज्ञान की प्रधानता के कारण ज्ञेय भी द्रष्टि में नहीं आता है। ज्ञानी की द्रष्टि ज्ञेय पर नहीं है, साथ ही ज्ञेयों को जानने वाले ज्ञान पर भी नहीं है। शरीर रुप ज्ञेय और शरीर को जानने वाला ज्ञान, इन दोनों से भिन्न भगवान आत्मा है। शरीर तो संयोग मात्र है और शरीर को जानने वाला ज्ञान, एक समय की पर्याय मात्र है, विकल्प है। इनसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा त्रिकाली नित्य ध्रुव तत्त्व ही मैं हूँ। ऐसा जानने पर वह शुद्ध ज्ञायक ही ज्ञान का ज्ञेय होता है। **ज्ञान का ज्ञेय ज्ञायक ही रहे, इसी का नाम ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचना है।**

ज्ञान स्वभाव की अनुभूति होते ही ज्ञेयाकार ज्ञान और ज्ञानाकार ज्ञान ऐसे भेद भी समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि आकार अनुभूति का विषय नहीं है। जैसे नमक की डली खारेपन से भरपूर है, ऐसे ही भगवान आत्मा ज्ञानरस से परिपूर्ण है। ज्ञानरस का आस्वादन तब ही होता है, जब ज्ञेयों के विशेषो में प्रवर्तने की वृत्ति छूटती है।

क्रोधादि विकार उत्पन्न होने पर, क्रोधादि भाव का अभाव करने का पुरुषार्थ करने पर क्रोधादि विकार दूर नहीं होते। सर्वप्रथम विकार का स्वीकार करके, विकार से भिन्न मेरा शुद्ध स्वरुप है, ऐसा निर्णय करना चाहिए। अज्ञानी चारित्र को ही प्रधानता देकर पुरुषार्थ करना चाहता है, जो कदापि सम्भव नहीं है। सर्वप्रथम द्रष्टि सम्बन्धी भूल दूर होती है। जब जीव अपने को क्रोधादि भावों से भिन्न शुद्ध ज्ञायक मानता है, तब चारित्र सम्बन्धी कमजोरी भी सहज दूर होती है, क्रोधादि भाव सहज ही दूर होते हैं।

शरीर की क्रिया तो आत्मा का चारित्र नहीं है, आत्मा में उत्पन्न

होने वाले आत्मा के शुभभाव भी आत्मा का चारित्र नहीं है। शरीर की क्रिया संयोग है और शुभभावरुप रागादि कषाय संयोगीभाव है। आत्मा तो संयोग एवं संयोगीभाव से भिन्न निर्मल तत्त्व है।

क्रोध हुआ, उसे जानो। मान हुआ, उसे जानो। माया हुई, उसे जानो। लोभ हुआ, उसे जानो। अमेरिका को भी जानो। न्युझीलैंड को भी जानो, सारे जगत को जानो। **हे भाई! जगत को जानने से पहले जगत को जानने वाले भगवान आत्मा को जानो।** वही जीव जगत का ज्ञाता-द्रष्टा रह सकता है, जिसने ज्ञाता-द्रष्टा ऐसे भगवान आत्मा को जान लिया हो। जिसने भगवान आत्मा को अनुभवपूर्वक जाना हो, वही जगत के किसी भी ज्ञेय से प्रभावित नहीं होता। **आत्मा को जाने बिना स्वयं को जगत का ज्ञाता-द्रष्टा मानना एवं ज्ञाता-द्रष्टा रहना सम्भव नहीं है।**

क्रोध से मुक्त होने के लिए क्रोध को जानने वाले जीव की द्रष्टि अब भी परभाव पर ही टिकी है। पहले तो वह क्रोध करने के लिए क्रोध को जानना चाहता था, अब क्रोध को छोडने के लिए क्रोध को जानना चाहता है। अज्ञानी को क्रोध की ही प्रधानता होने के कारण ज्ञान स्वभाव की महिमा नहीं आती। क्रोधरुप विभाव को जानने से क्रोध नहीं छूटता। ज्ञान स्वभाव को जानने से क्रोधादि विभावों से सहज निवृत्ति होती है।

क्रोधादि भावों से एकत्व छूडाने का उपदेश अज्ञानी को आत्मधात से कम नहीं लगता। वह स्वयं को रागादिभाव स्वरुप मानता है और वह मरना नहीं चाहता। जिसने स्वयं को रागी माना हो, वह राग का नाश करना क्यों चाहेगा? जिसने स्वयं द्वेषी माना है, वह द्वेष का नाश करना क्यों चाहेगा? **राग-द्वेष को छोडने से पहले, उन्हें परभाव जानना एवं मानना अनिवार्य है।**

कोई भी वस्तु चारित्र में छूटने से पहले श्रद्धान में छूटती है। पेन को छोडने के लिए, यह मानना जरुरी है कि यह पेन मेरी नहीं है। आत्मा में उत्पन्न होने वाला कोई भी विकारी भाव आत्मा से महान नहीं है। क्योंकि विभाव का उत्पाद और व्यय है, जबकि भगवान आत्मा उत्पाद एवं व्यय से भिन्न त्रिकाली ध्रुव है। **भगवान एवं भगवान की भक्ति का भाव, निज भगवान आत्मा से महान नहीं है, भगवान परद्रव्य है, भगवान की भक्ति**

का भाव परभाव है। निज भगवान आत्मा स्वद्रव्य है। एक करोड रुपये दान में देने का भाव आत्मा से महान नहीं है। क्योंकि दान देने के भाव व्यतीत हो जाते हैं, मर जाते हैं। यदि आप स्वयं को दान देने वाला मानोगे तो आपको मरना पडेगा, क्योंकि दान देने का भाव तो मर जाता है और मैं भगवान आत्मा अमर हूँ। परन्तु जिसने दान देनेरुप राग भाव में सुख माना हो, वह उस भाव को पराया कैसे मान सकता है?

राग का भाव एक समय के लिए व्यक्त है, जबकि ज्ञान स्वभाव त्रिकाल व्यक्त है। ज्ञान स्वभाव त्रिकाल व्यक्त है, अतः ज्ञान स्वभावी आत्मा भी त्रिकाल व्यक्त है।

शुभराग के क्षणिक विकल्प में एकत्व करके त्रिकाली भगवान आत्मा का अनादर नहीं करना चाहिए। जिसका अस्तित्व एक क्षण से अधिक नहीं है, जो पर के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ है, जो स्वयं आकुलता स्वरुप है, जो स्वयं दुःख स्वरुप है, जो मैं नहीं हूँ। अज्ञानी जीव उन्हीं विकल्पों में तन्मय होकर व्यर्थ ही दुःखी होता है, ज्ञानी तो निरंतर ध्रुव की ध्रुवता को ही लक्ष्य में रखते हैं।

पर के विकल्प से बचने के लिए किसी व्यक्ति के बारे में अपनी धारणा को द्रढ नहीं करना चाहिए। क्योंकि इष्ट एवं अनिष्ट धारणा कर लेने से आत्मा में राग-द्वेष के ऐसे संस्कार द्रढ होते हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ कर देते हैं। अतः किसी भी व्यक्ति, वस्तु या घटना के सम्बन्ध में ठीकाठीक की कल्पना करना योग्य नहीं है। ये व्यक्ति अच्छा है और ये व्यक्ति बुरा है ऐसे भेद करके व्यर्थ ही कषाय मत करना। **वस्तु स्वरुप की द्रष्टि से देखने पर जगत का एक भी द्रव्य अच्छा या बुरा नहीं है। पर सम्बन्धी विकल्पों को विराम मिलने पर ही आत्मतत्त्व के विचार प्रारम्भ होते हैं।**

तीन लोक में सर्वोत्कृष्ट भगवान मैं ही हूँ, ऐसा विचार करने पर आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी परपदार्थो के विकल्पों में होने वाला प्रवर्तन सहज ही रुक जाता है। जगत में मुझ से महान दूसरा कोई नहीं है, ऐसा चिन्तन करके स्वयं को भगवान आत्मा की महिमा आनी चाहिए। क्योंकि महान होने के लिए स्वयं का महान मानना जरुरी है। जब तक

जीव अपने को पापी मानता है तब तक पापी के योग्य पाप रुप हीन आचरण ही करता है। परन्तु जब जीव स्वयं को भगवान मानता है, तब उसका आचरण भी भगवान के समान महान हो जाता है। स्वयं को द्रव्य स्वभाव से भगवान मानने वाले ज्ञानी कदाचित बाह्य व्यवहार में किसी आदरणीय परिवारजनों को हाथ जोडकर या पैर छूकर नमस्कार भी करते हैं, तो भी उन्हें अपने हीनपने का एहसास नहीं होता। ज्ञानी संयोगो से सर्वथा भिन्न अपने द्रव्य स्वभाव की महिमा जानते हैं। **स्वभाव में परभाव का प्रवेश हो ही नहीं सकता, ऐसी प्रतीति होने पर ज्ञानी को किसी भी प्रकार विभावों से अपना स्वरुप हीन नही लगता।**

किसी व्यक्ति की प्रशंसा एवं निंदा का भाव जीव को सुखरुप लगता है, परन्तु अज्ञानी उसके फल में मिलनेवाले दु:ख को जानता नहीं है, मानता नहीं है, अत: विषयों की चर्चा-वार्ता में ही अपने अमूल्य भव को व्यर्थ ही गँवाता है। भगवान आत्मा में एकत्वपने के नित्य सुख को छोडकर ज्ञानी कषायभावों के क्षणिक सुख में अटकते नहीं है। जो जीव क्षणिक कषाय की पूर्ति से मिलने वाले काल्पनिक सुख में अटकेगा, वह निश्चितरुप से संसाररुपी अटवी में भटकेगा।

अज्ञानी को किसी व्यक्ति से क्षमा मांगने में अपना हीनपना लगता है। क्योंकि मान कषाय से पुष्ट होने वाली महानता के अतिरिक्त स्वभाव की महानता का उसे अनुभव ही नहीं हुआ है। लोक में अपमान हो जाये तो, अज्ञानी को अपना महानपना छूटता नजर आता है। **जब जीव विचार करता है कि क्षणभर के सुख की वासना के फल में मुझे अनन्त काल तक दु:खी नहीं होना है, तब वासनामुक्त होकर नित्य सुखी होने का उपाय भी खोजता है।**

अपने दोष को दूर करने हेतु साधक को ज्ञानी का कठोर उपदेश भी दु:खरुप नहीं लगता। क्योंकि उसे पूरा भरोसा होता है कि ज्ञानी का उपदेश मेरे आत्महित के लिए ही है। इस श्रद्धान के बल पर साधक अपने दोषों को नम्र एवं विनय भाव से स्वीकार करता है और उसे दूर करने का उद्यम भी करता है। साध्य की प्राप्ति हेतु साधन का अवलम्बन लेने में साधक हिचकिचाहट नहीं करते।

क्रोधादि कषाय भावकर्म है और उन कषायभावों को जानने वाला क्षयोपशमज्ञान भावेन्द्रिय है। भावकर्म और भावेन्द्रिय से भिन्न ज्ञानस्वभाव आत्मा का लक्षण है। जैसे - श्रीखंड में मिले हुए दहीं एवं शक्कर को भिन्न-भिन्न किया नहीं जा सकता, परन्तु ज्ञान में ऐसा जान सकते हैं कि इसमें जो खट्टा स्वाद है, वह दहीं है और जो मीठा स्वाद है, वह शक्कर है। ऐसे ही आत्मा में से ही उत्पन्न होने वाले राग और ज्ञान को अलग किया नहीं जा सकता, परन्तु उन्हें अलग-अलग जान सकते हैं कि आकुलता जिसका लक्षण है, वह राग है और निराकुलता लक्षण जिसका है, वह ज्ञान है।

स्थूल द्रष्टि से देखे तो द्रव्य एवं पर्याय को जुदा किया नहीं जा सकता, परन्तु जुदा जाना जा सकता है। **द्रव्य को पर्याय से जुदा करने के भाव से बडा कोई पाप नहीं है और द्रव्य को पर्याय से जुदा जानने के बडा कोई धर्म नहीं है।** किसी मनुष्य शरीर में स्थित आत्मा को उसकी मनुष्य पर्याय से जुदा कर देने का भाव पंचेन्द्रिय की हिंसा का भाव है। पांच प्रकार के पाप में हिंसा प्रथम क्रम पर है। वहीं दूसरी ओर मनुष्य शरीर में रहने वाले उस आत्मा को मनुष्य नहीं जानकर आत्मा को मनुष्य पर्याय से भिन्न जानने का नाम भेदविज्ञान है। **भेदविज्ञान ही अपूर्व अद्भूत धर्म है।**

भगवान आत्मा नित्य प्रत्यक्ष है अर्थात् त्रिकाल प्रत्यक्ष है। ज्ञायक भाव त्रिकाल सता स्वरुप होने पर भी त्रिकाल एकरुप है। किसी व्यक्ति के दो भिन्न-भिन्न स्वरुप को एक समय में एक साथ जानना सम्भव नहीं है। जब किसी व्यक्ति के सुबह का स्वरुप ज्ञान में जानने पर शाम का स्वरुप ज्ञान में जानने में नहीं आता है और शाम का स्वरुप जानने पर सुबह का स्वरुप जानने में नहीं आता है। ज्ञायक भाव का स्वरुप तीनों काल में रहने वाला है और वह स्वरुप एक समय की ज्ञान पर्याय में जानने में आ सकता है क्योंकि तीनों काल में ज्ञायक भाव का स्वरुप एकरुप है। साधक जीव का साध्य नित्य प्रत्यक्ष आत्मा ही होता है। आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाला सुख भी नित्य टिकेगा या नहीं, ऐसे विकल्पों में भी साधक नहीं अटकते। साधक नित्य प्रत्यक्ष आत्मा को वर्तमान में ही भोगते हैं, क्योंकि कोई भी जीव वर्तमान में ही सुख भोग सकता हैं, भविष्य में जाकर नहीं।

२४. ज्ञायक की अनुभूति के लिए क्या करें?

अज्ञानीजनों को यह शंका होना स्वभाविक है कि यदि ज्ञायक की अनुभूति से ही अतीन्द्रिय आह्लाद स्वरुप सुख की उपलब्धि होती है, तो ज्ञायक की अनुभूति के लिए क्या करें? ज्ञानी कहते हैं कि जब तक आत्मा में कुछ करने का विकल्प उत्पन्न होता है, तब तक ज्ञायक की अनुभूति नहीं होती। यहाँ तक कि ज्ञायक की अनुभूति का विकल्प भी ज्ञायक की अनुभूति में बाधक होता है। कार्य तो पर्याय में ही होता है, पर्याय का दूसरा नाम ही कार्य है। **द्रव्य तो अकार्यकारणत्वशक्ति संपन्न है, अतः ज्ञायक में तो कुछ भी करने या होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।**

जो जीव स्वयं को पर्याय स्वरुप मानता है, उसे ही कुछ करने का विकल्प आता है। ज्ञानी तो वे हैं, जो विकल्पों करते तो नहीं, बल्कि विकल्पों को जानते तक नहीं। विकल्प भी ज्ञान में सहज जानने में आते है, ज्ञानी तो बस ज्ञान को ही जानते हैं, यही कारण है कि ज्ञानी निरंतर सुख का अनुभव करते हैं।

जब दर्पण में मोर प्रतिबिंबित होता है तब आप किसे जानते हैं? मोर को या दर्पण की निर्मलता को? चूंकि दर्पण की निर्मलता को जानने वाला तो दर्पण की निर्मलता को जानता है, वैसे ही दर्पण में मोर को जानने वाला भी दर्पण की निर्मलता को ही जानता है, परन्तु मोर की कला में आसक्त पुरुष की द्रष्टि दर्पण की निर्मलता की ओर नहीं जाती। वह दर्पण में भी मोर ही देखता है, अनुभव करता है। अध्यात्ममार्ग में ज्ञान की निर्मलता को जानने वाला ज्ञानी, ज्ञान की निर्मलता को ही जानता है, वैसे ही ज्ञान की निर्मलता में परज्ञेयों को जाननेवाला अज्ञानी भी ज्ञान की निर्मलता को ही जानता है, परन्तु परज्ञेयों की आसक्ति के आधीन अज्ञानी निर्मल ज्ञान में भी परज्ञेयों का अनुभव करता है, फलस्वरुप अनन्त दुःखी होता है।

वास्तव में मोर दो नहीं हैं, मोर तो एक ही है क्योंकि दर्पण में तो

मोर है ही नहीं, दर्पण में तो निर्मलता ही है। यदि दो दर्पण में एक मोर प्रतिबिंबित हो, तो मोर की संख्या तीन नहीं हो जाती। **मोर कितने ही दर्पण में प्रतिबिंबित हो, फिर भी मोर तो एक ही रहता है, क्योंकि किसी भी दर्पण में मोर है ही नहीं, दर्पण में तो दर्पण ही है। दर्पण में दर्पण भी क्यों? दर्पण तो दर्पण ही है।** उसीप्रकार ज्ञान पर्याय में जानने में आने के कारण ज्ञेयों की संख्या बढ नहीं जाती। यदि सिर्फ ज्ञान में जानने में आने के कारण ही ज्ञेयों की संख्या बढ जाती तो विश्व की संख्या भी अनन्त होती, क्योंकि अनन्त केवलज्ञानियों की ज्ञान पर्याय में विश्व प्रतिबिंबित होता है। निश्चय से विश्व अपने स्थान पर स्थित है, केवलज्ञान अपने स्थान पर स्थित है।

आत्मा का स्वरुप भी पर्याय अपेक्षा से अस्थिर होने से जो जीव स्वयं को पर्याय जानता है, मानता और उसरुप ही अनुभव करता है, वह जीव आत्मा की नित्यता का अनुभव नहीं कर सकता। यद्यपि द्रव्य स्वभाव में नित्यता कायम होने पर भी आत्मा के क्षणिकपने के अनुभव के कारण सुख प्रगट नहीं कर सकता।

भगवान आत्मा का स्वरुप रागादि भाव से भिन्न होने पर भी जीव को रागादि भाव दूर करने के विकल्प उत्पन्न होते हैं, ये विकल्प भी रागादि भाव की रुचि के द्योतक हैं। ज्ञायकभाव की रुचि होने पर ज्ञायक सम्बन्धी ही विचारधारा चलती रहती है। ज्ञायकभाव के गुणगान गाना सुहाता है। रागादिभावरुप मलिनता के अभाव से परिणति निर्मल होती है, परन्तु परिणति निर्मल करने के विकल्प से भी परिणति मलिन ही होती है। **एक मात्र ज्ञायकभाव के आश्रय से ही परिणति निर्मल होती है।**

ज्ञायकभाव में अनन्तगुणों की एकता गर्भित है। ज्ञायकभाव एक है, किन्तु उसमें अनन्त गुणों की अखण्डितता समाहित है। जैसे भारत देश को एक कहने से उसकी महिमा नहीं आती, परन्तु यदि ऐसा कहे कि एक सौ पच्चीस करोड लोगों की एकतारुप भारत एक है, ऐसा कहने पर विशेष महिमा आती है। उसीप्रकार ज्ञायकभाव एक है, इस बात से ज्ञायकभाव की महिमा नहीं आती, परन्तु अनन्त गुणों का घनपिंड ज्ञायकभाव एक है, ऐसा कहने पर ज्ञायकभाव की विशेष महिमा आती है।

२५. ज्ञान की अनुभूति ही ज्ञायक की अनुभूति

ज्ञान की अनुभूति ही ज्ञायक की अनुभूति है। जब आत्मा गुण भेद के विकल्पों से अतीत होकर भेद से रहित एक मात्र द्रव्य का अनुभव करता है, तब आत्मा को ज्ञान की अनुभूति में ही ज्ञायक की अनुभूति होती है।

जैसे किसी व्यक्ति को अमेरिका से भारत आना हो, तो उसे मुम्बई, दिल्ली, चैन्नई, कोलकाता आदि नगर में ही आना होगा। यदि वह व्यक्ति किसी भी नगर को स्पर्श करता है, तो वह भारत का स्पर्श कर लेता है। उसीप्रकार गुण के माध्यम से गुणी तक पहुँचा जा सकता है। वहाँ तो हम उक्त अनेक नगरों में से किसी भी नगर के माध्यम से भारत आ सकते हैं, परन्तु ज्ञायक तक पहुँचने के लिए तो ज्ञान ही एक मात्र साधन है।

जिसप्रकार मैं मुम्बई में हूँ या मैं दिल्ली में हूँ, ऐसा विकल्प उस व्यक्ति को एक अखण्ड भारत की अनुभूति में बाधक होता है, उसीप्रकार यह जो अनुभव हो रहा है वह ज्ञान का अनुभव हो रहा है ऐसा विकल्प ज्ञायक की अनुभूति में बाधक होता है।

जिसप्रकार अमेरिका का विकल्प भारत की अभेद अनुभूति में बाधक है, उसीप्रकार मुम्बई का विकल्प भी भारत की अभेद अनुभूति में बाधक है। मुम्बई पहुँचने के बाद उसे भारत का अनुभव करने के लिए सिर्फ इसी विकल्प से मुक्त होना है कि यह मुम्बई है। मुम्बई के भेद में न जाकर मात्र भारत अनुभव करने पर ही मातृभूमि के स्पर्श का आनन्द आ सकता है।

जिसप्रकार परद्रव्य का विकल्प ज्ञायक की अभेद अनुभूति में बाधक है, उसीप्रकार ज्ञान गुण का विकल्प भी ज्ञायक की अभेद अनुभूति में बाधक है। ज्ञेयाकार ज्ञान एवं ज्ञानाकार ज्ञान के भेद से अतीत ज्ञान स्वभाव का अनुभव होने के बाद साधक को ज्ञायक का अनुभव करने के लिए सिर्फ इसी विकल्प से मुक्त होना है कि यह ज्ञान है। ज्ञान के भेद में न अटककर एक मात्र ज्ञायक का अनुभव करने पर ही पर्याय को द्रव्य की स्पर्शना का सुख प्रकट हो सकता है।

२६. ज्ञायक की अनुभूति होते ही...

ज्ञायक की अनुभूति होते ही सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की यथार्थ प्रतीति, सात तत्त्व की यथार्थ प्रतीति, क्रमबद्ध पर्याय की श्रद्धा, भेदज्ञान, ज्ञानधारा, अतीन्द्रिय आनन्द प्रकट होता है।

ज्ञायक की अनुभूति होने के बाद ज्ञानी को अपने स्वरुप का बार-बार विचार नहीं करना पडता। जैसे अज्ञानी को दिन-प्रतिदिन अपने घर के बारे में, दुकान के बारे में, परिवारजनों के बारे में विचार नहीं करना पडता। उसकी श्रद्धान में वे पदार्थ अपनेपन में स्थित हो चुके हैं। ऐसे ही ज्ञानी के श्रद्धान में ज्ञायक टंकोत्कीर्ण हो चुका है। ज्ञानी को बार-बार ज्ञायक के सम्बन्ध में विचार नहीं करना पडता। ज्ञायक की अनुभूति होने पर ज्ञानी को कदाचित् विचार करने पर यह एहसास होता है, वे देह के साथ है। इस देह की सत्ता सम्बन्धी विस्मृति भी ज्ञायक की स्मृति है, ज्ञायक की श्रद्धा है।

ज्ञानी को निरंतर ज्ञान की अनुभूति होती है। देह में प्रतिकूलता आने पर ज्ञानी देह की प्रतिकूलता का नहीं, अपने ज्ञान स्वभाव का अनुभव करते हैं। यहाँ कोई पूछे कि देह बिमार होने पर क्या ज्ञानी दवाई नहीं लेते हैं? अज्ञानी का यह प्रश्न भी उसकी देह की रुचि को बताता है। उसे ऐसा प्रश्न क्यों नहीं हुआ कि ज्ञानी, ज्ञान स्वभाव का अनुभव कैसे करते है? देह की रुचि वाले जीवों को देह और ज्ञान स्वभाव की रुचि वाले जीवों को ज्ञान स्वभाव सम्बन्धी प्रश्न उठते हैं।

जैसे किसी व्यक्ति को यह प्रश्न हुआ कि देश में इतने जमीनकंद उगते हैं, यदि हम नहीं खायेंगे तो जमीनकंद का क्या होगा? उसे कहते हैं कि भाई! तू आत्मार्थी नहीं है, बल्कि भोजनार्थी है। तूझे यह प्रश्न तो हुआ जमीनकंद नहीं खाउँगा, तो जमीनकंद का क्या होगा परन्तु तूझे ऐसा प्रश्न नहीं हुआ कि यदि जमीनकंद खाउँगा, तो खाने के भाव से इस आत्मा का क्या होगा?

अज्ञानी को यह प्रश्न तो उपस्थित होता है कि क्रमबद्ध पर्याय में राग

होना है तो होगा ही, अब मुझे बताओ कि राग को दूर करने का पुरुषार्थ कैसे करे? परन्तु उसे क्रमबद्ध पर्याय की चर्चा सुनकर त्रिकाली ज्ञायक सम्बन्धी विचार भी नहीं आता।

यह घटना कब घटेगी, ऐसा विकल्प तो घटना की रुचि है ही, साथ-साथ घटना क्रमबद्ध में जब घटनी होगी, तब ही घटेगी, ऐसा विकल्प भी घटना की रुचि को ही प्रकट करता है। **पर्याय द्रष्टि छूटे और द्रव्य द्रष्टि स्थापित हो, यह क्रमबद्ध पर्याय के सिद्धांत को समझाने का उद्देश्य है। वास्तव में अक्रम स्वभावी भगवान आत्मा में उपयोग स्थिर हो, यही क्रमबद्ध पर्याय की यथार्थ श्रद्धा का यथार्थ फल है।**

कमजोर व्यक्ति कमजोरी सम्बन्धी एवं पुरुषार्थी पुरुष पुरुषार्थ सम्बन्धी प्रश्न पूछता है। रागादि भावरुप पर्याय की कमजोरी तो अनादि काल से ही इस आत्मा है, अनादिकाल से आजतक आत्म कल्याण हेतु पुरुषार्थ नहीं किया। अतः आत्मा के हित हेतु ही तत्त्वचर्चा करना चाहिए। रागादिभाव का अस्तित्व तो एक समय से अधिक नहीं है, अतः उसमें पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं है। ज्ञायक सम्बन्धी तत्त्वविचार करने का अभ्यास आजतक किया नहीं है और आत्मानुभूति का कार्य कर्म के उदय से होने वाला नहीं है। अतः वहाँ पुरुषार्थ की ही अनिवार्यता एवं प्रधानता है।

ज्ञानी को निरंतर सहज पुरुषार्थ होता है, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति होती है, जबकि मिथ्याद्रष्टी को वैसी प्रतीति जागृत करने का अभ्यास होता है। अज्ञानी को पुण्य एवं पाप तत्त्व की श्रद्धा नहीं होने से वह अपने भविष्य को धन-सम्पति आदि जोडकर सुरक्षित करने में ही अपने वर्तमान को व्यर्थ में ही गँवाता है। वह सोचता है कि महँगाई दिन-प्रतिदिन बढ रही है, अस्पताल में इलाज भी महँगा हो रहा है। अतः पैसे तो बचाकर रखने ही चाहिए। अपने बुढापे में दवाई के लिए करोडों रुपये जोडने वाला जवान करोडपति भी रास्ते पर गाडी में बैठे-बैठे पानी-पानी मांगता हुआ मरता है और पानी की एक बूंद भी नहीं मिलती। करोडों रुपये होने पर भी इलाज नहीं करा पाता। वहाँ उसे जीवनभर इकठ्ठा किया हुआ धन उपयोगी सिद्ध नहीं होता। जिसके पास इतना धन था, फिर भी उसे

धन उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, वहीं निर्धन व्यक्ति भी पुण्योदय में अपनी बिमारी का इलाज करा लेता है।

अधिकांश तो ऐसा ही होता है कि धन होने पर भी धन के लोभ के कारण धनवान अपना इलाज नहीं कराता है, वह सोचता है कि चलता है, तो चलने दो। वहीं निर्धन व्यक्ति पुण्योदय से किसी संस्था से भी सहाय लेकर बिमारी का इलाज करा लेता है। अत: देह के सम्बन्ध में एक क्षण पर्यंत भी विचार मत करो और भगवान आत्मा का अनन्तकाल तक अस्तित्व है, ऐसा विचार करके क्षणिक पुदगल के पीछे दौडना बन्द करो। **यदि पुण्योदय होगा तो धन के पीछे तुम्हें नहीं, बल्कि धन तुम्हारे पीछे दौडता आयेगा।**

ज्ञानी को पुण्य एवं पाप तत्त्व की श्रद्धा होती है, इसका अर्थ ऐसा ही नहीं समज़ना चाहिए कि ज्ञानी मानते हैं कि पुण्य के उदय से अनुकूल एवं पाप के उदय से प्रतिकूल संयोग मिलते हैं। **ज्ञानी मानते हैं कि पुण्य एवं पाप के उदय से मुझे क्या लाभ और क्या नुकसान? पुण्य एवं पाप इन दोनों प्रकार के कर्मोदय के निमित्त से मिलने वाले समस्त संयोगो से मैं त्रिकाल भिन्न हूँ।** जब पुण्य एवं पाप कर्म के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तो उनके उदय से मेरा क्या सम्बन्ध? **कर्म एवं कर्मोदय तो त्रिकाल जड है और मैं तो त्रिकाल चेतन तत्त्व हूँ।**

अज्ञानी कहता है कि संयोग का वियोग तो होने वाला हि है, जबकि ज्ञानी तो ऐसा मानते हैं कि संयोग के काल में भी दो द्रव्यों के बीच में अत्यंताभाव होता है। जब शरीर के अनन्त परमाणु भी मिलते नहीं हैं। स्कन्धरुप अवस्था में भी वे परमाणु स्वतंत्र ही है। एक समान जाति का परमाणु, उसी जाति के परमाणु के साथ मिल नहीं सकता, तो परमाणु के बन्ध से निर्मित यह देहरुपी अचेतन स्कन्ध भगवान आत्मा के साथ कैसे मिल सकते हैं अर्थात् कभी नहीं मिल सकते। आत्मानुभवी साधक को पुण्य एवं पाप के उदय सम्बन्धी विकल्प भी नहीं उठते। आत्मा के आश्रय से प्रकट होने वाले धर्म को भी द्रष्टि के विषय में शामिल नहीं किया, तो पुण्य एवं पापरुप कर्म साधक की द्रष्टि में कैसे आ सकते हैं?

२७. सहज भेदज्ञान

दो द्रव्यों में भेद करने का नाम भेदज्ञान नहीं है, परन्तु दो भिन्न द्रव्यों को भेदरुप जानना ही भेदज्ञान है। भेदज्ञान के बिना आत्मानुभूतिरुप अपूर्व कार्य सिद्ध नहीं होता। अज्ञानी को दो पर पदार्थो को भेदरुप जानने का अभ्यास तो अनादिकाल से है। यह घर मेरा है, यह घर मेरा नहीं है। यह धन मेरा है, यह धन मेरा नहीं है। खास बात तो यह है कि अज्ञानी जिन दो पदार्थों को भेदरुप जानता है, वे दोनों पदार्थ परद्रव्य की श्रेणी में आते हैं। इसलिए अज्ञानी का भेदज्ञान अनंत दु:ख का कारण बनता है। परद्रव्यों के बीच भेद जानने से मिथ्यात्व एवं राग-द्वेष पुष्ट होते हैं एवं आत्मद्रव्य में भेद जानने से विकल्प उत्पन्न होते हैं। **वास्तव में स्व और पर के बीच भेद जानना ही भेदविज्ञान है। मैं समस्त परद्रव्य से सर्वथा भिन्न एवं अनन्त गुणों का अभेद, अखंड, एक, ज्ञायक हूँ।**

स्वभाव पर द्रष्टि रखकर स्व-पर के बीच भेदज्ञान करना चाहिए। क्योंकि पर को मात्र जानना है और स्व को जानने के साथ-साथ उसमें एकत्व भी करना है और लीन भी होना है। चावल और कंकण को पृथक करते समय द्रष्टि चावल पर ही रखते हैं और कंकण को पकड फेंक देते हैं, फेंकने के बाद तो उस पर द्रष्टि तक नहीं करते। क्योंकि हमें सिर्फ चावल का अनुभव करना है, कंकण का नहीं। उसीप्रकार त्रिकाली भगवान आत्मा और क्षणिक रागादिभाव के बीच भेदज्ञान करते समय द्रष्टि त्रिकाली भगवान आत्मा पर रखना है और रागादिभावों को पर जानकर उस पर द्रष्टि भी नहीं करना है। रागादिभाव के होने या नहीं होने का विकल्प भी नहीं करना है।

पर का अंश स्व में नहीं जानना और स्व का अंश पर में नहीं जानना ही यथार्थ भेदविज्ञान है। ऐसा अपूर्व भेदविज्ञान स्वाधीन है क्योंकि भेदज्ञान का आधार जो ज्ञान है, वह ज्ञान आत्मा का स्वभाव है।

प्राथमिक भूमिका में टाईप राइटर उपयोग की एकाग्रता से टाईप

करने का अभ्यास करता है, जब वह टाईप करने में निपुण हो जाता है, तब वह किसी व्यकित से बात करते-करते भी टाईप कर सकता है, वह सहज टाईप करता है। अध्यात्म मार्ग में भी भेदज्ञान का अभ्यास करने से ही निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है। आत्मानुभूति के बाद भेदज्ञान सहज होता है। विषयभोग के काल में भी ज्ञानी को स्व-पर का सहज भेदज्ञान होता है। ज्ञानी को जबतक केवलज्ञान नहीं होता, तबतक भेदज्ञान की धारा सहजरुप से चलती रहती है।

यह सत्य है कि सागर में मोती होते हैं, परन्तु यह भी सत्य है कि सागर में डूबकी लगानेवाले सभी लोगो के हाथ मोती नहीं आते। जो व्यक्ति सागर की गहराई में जाकर मोती निकालकर बाहर आता है, उसे ही मोती मिलते हैं। जो समुद्र में डूबना तो जानते हैं परन्तु पुनः बाहर आने की कला नहीं जानते हैं, उन्हें मोती नहीं, बल्कि मौत मिलती है। उसीप्रकार ज्ञायक भाव की अनुभूति के लक्ष्य से जो जीव क्षयोपशम ज्ञान प्राप्त करके क्षयोपशम ज्ञान के क्षणिकपने में नहीं अटकते, वे निश्चितरुप से भव-वन में कभी नहीं भटकते, उन्हें ही मुक्ति मिलती है। मात्र भेद में उलझने वाले अज्ञानीजनों को एक बार ही नहीं, बल्कि अनन्तबार मौत ही मिलनेवाली है। उनके अनन्त बार जन्म-मरण होते हैं।

अनादिकाल से संसार अटवी में अटक जाने का कारण मिथ्यात्व और कषाय है। यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में अविरत सम्यग्द्रष्टी को मिथ्यात्व के उदय का ही अभाव हुआ है। अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सदभाव है, फिर भी अविरत सम्यग्द्रष्टी को भी अपनी भूमिकानुसार अविरति, प्रमाद, कषाय और योग मर्यादित अवश्य हुए हैं। इसलिए मिथ्याद्रष्टी को यह मानकर कदापि स्वच्छंदी नहीं हो जाना चाहिए कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व का ही अभाव अनिवार्य है, इसलिए मैं वर्तमान में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के संबंध में इच्छानुरुप प्रवर्तन करुं।

जब तक निमित्ताधीन द्रष्टि है, तब तक सद्निमित्त में रहना जीव का कर्तव्य है। जिस जीव को निमित्ताधीन द्रष्टि के कारण असद्निमित्त प्रभावित करते हैं, उस जीव को निमित्ताधीन द्रष्टि के कारण सद्निमित्त भी प्रभावित

करेंगे। जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि भगवान महावीर को मारीचि की पर्याय में सम्यग्दर्शन नहीं होना था, तो भगवान आदिनाथ की दिव्यध्वनि सुनकर भी नहीं हुआ। उन लोगों की ही द्रष्टि अकेले इस प्रसंग पर ही है, जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं होना होता। जिनकी होनहार भली होती है, उनके ध्यान में यह बात भी अवश्य ही आती है कि अनेकानेक जीवों की योग्यता पकने पर उन्हें भगवान आदिनाथ की दिव्यध्वनि का निमित्त सहज मिला था। भूतकाल में जिन जीवों की सम्यग्दर्शन प्रकट करने की योग्यता नहीं पकी थी, उन जीवों को उत्कृष्ट सद्निमित्त मिलने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ था। ऐसा उदाहरण लेकर सद्निमित्तो को कदापि नहीं छोडना चाहिए।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के पूर्व जीव को नियम से निरंतर ज्ञायक का चिन्तन-मनन होता है। उनका चलना-घुमना, खाना-पीना, सोना-जागना, आदि कार्य बंद नहीं हो जाते। परंतु प्रत्येक घटना में ज्ञायक का ही स्मरण होता है। निरंतर यही चिन्तन होता है कि मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ...। प्रति समय प्रत्येक ज्ञेय को जानने के काल में गुरु के मुख से सुनकर एवं आगम में से पढकर जैसा ज्ञायक का स्वरुप जाना था, उसी प्रकार का ज्ञायक का स्मरण निरंतर होता है।

गुरु की आज्ञा शिष्य के हित के लिए ही होती है। जो आज्ञा शिष्य के हित लिए न हो, परंतु गुरु के हित के लिए दी गई हो, उसे कुगुरु की आज्ञा समज़ना चाहिए। सदगुरु की यही भावना होती है कि उनके शिष्य को उनके पास दोबारा नहीं आना पडे। गुरु तो यही चाहते हैं कि ज्ञान प्राप्त कर वह शिष्य स्वयं ऐसा लीन हो जायें कि उसे गुरु के पास जाने की आवश्यकता ही न रहे, जबकि कुगुरु यही चाहते हैं कि उनके शिष्य उनके पास बार-बार आते रहे और हो सके तो कभी-भी उन्हें छोडकर कहीं जाये ही नहीं।

जो जीव स्वयं को मिथ्याद्रष्टी मानता है, वह मिथ्याद्रष्टी है ही। साथ साथ जो जीव स्वयं को सम्यग्द्रष्टी मानता है, वह भी मिथ्याद्रष्टी ही है। क्योंकि सम्यग्द्रष्टी कदापि स्वयं को सम्यग्द्रष्टी नहीं मानते, वे तो स्वयं को त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक ही मानते हैं। इसीप्रकार साधु, अरिहंत एवं सिद्ध क्रमशः स्वयं साधु, अरिहंत एवं सिद्ध नहीं मानते। वे भी स्वयं को

त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक ही मानते हैं।

जब तक जीव ऐसा मानता है कि मुझे परद्रव्य के कारण रागादिभाव होते हैं या कर्मोदय के कारण रागादिभाव होते हैं, तब तक उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ तक कि पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण मुझे रागादिभाव होते हैं, जब तक जाव ऐसा मानता है तब तक भी उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

कदाचित् जीव ऐसा भी मान लें कि रागादिभाव पर्याय में उत्पन्न होते हैं, त्रिकाली ज्ञायक में तो अनादिकाल से आजतक रागादिभाव हुए ही नहीं, मैं तो अरागी तत्त्व हूँ। तब स्वयं को अरागी तत्त्व मानने में भी राग का नास्तिरुप से विकल्प होता है। अतः स्वयं को अरागी मानने से भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

तब यह प्रश्न हो सकता है कि किस तत्त्व में एकत्व स्थापित करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी? ज्ञानी कहते हैं कि मैं तो त्रिकाली ज्ञायक ही हूँ, ऐसी द्रढ एकत्वरुप प्रतीति होने पर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। हां, सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान या मोक्ष भी क्यों न हो? **मैं तो त्रिकाल मुक्त निरपराधी हूँ। इस प्रतीति के बल पर ज्ञानी निर्भय होते हैं।**

निर्विकल्प आत्मानुभूति का स्वरुप वे ही जानते हैं जिन्हें निर्विकल्प आत्मानुभूति होती है। निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व होने वाली दशा का ज्ञान भी आत्मानुभवी को ही होता है। क्योंकि जो निर्विकल्प दशा तक पहूँचा ही नहीं है, ऐसा मिथ्याद्रष्टी यह निर्णय नहीं कर सकता कि यह दशा निर्विकल्प आत्मानुभूति के पूर्व होने वाली दशा है। अतः साधक जीवों को चाहिए कि वे सदगुरु के योग में रहकर, तत्त्वाभ्यास के बल पर, मैं ज्ञायकभाव ही हूँ, ऐसा निर्णय करें।

ज्ञानीजन व्यर्थ के कोलाहल में नहीं जाते। अप्रयोजनभूत बातें करके अज्ञानी प्रतिपल ज्ञायक की अनुभूति से होने वाले अतीन्द्रिय सुख को गंवाता है। व्यर्थ के कोलाहल से न केवल कोलाहल के काल में दुःख होता है, बल्कि अप्रयोजनभूत विषयों के प्रपंचरुप संस्कार भी आत्मा में द्रढ होते हैं, जो आगामी काल में भी दुःख के ही कारण होंगे।

२८. अंतर परिणति

आत्मा के श्रद्धा गुण की पर्याय को प्रतीति, ज्ञान गुण की पर्याय को परिणाम, चारित्र गुण की पर्याय को परिणति एवं किसी भी गुण की पर्याय को परिणमन कहते हैं। कषाय के कारण जितने अंश में चारित्र गुण की पर्याय मलिन होती है, उसे अशुद्ध परिणति एवं कषाय अभावपूर्वक वीतरागता के कारण जितने अंश में चारित्र गुण की पर्याय निर्मल होती है, उसे शुद्ध परिणति कहते हैं।

बाह्य व्रत-तपादि के कारण अंतर परिणति निर्मल नहीं होती है। जिसप्रकार सुख गुण जीव द्रव्य में ही होता है, फिर भी अज्ञानी शरीर में सुख मानकर मिथ्यात्व को पुष्ट करता है, उसीप्रकार चारित्र गुण भी जीव द्रव्य में ही होता है, फिर भी अज्ञानी शरीरादि जड की क्रिया में ही चारित्र मानकर अपने मिथ्यात्व को पुष्ट करता है।

कर्तृत्वबुद्धि के भार से पीडित अज्ञानी जीवों को अंतर परिणति निर्मल नहीं होती है। ज्ञानी कहते हैं कि **जब जब यहाँ अधर्म का उदय होगा, तब तब मैं यहाँ जन्म नहीं लूंगा, अपितु केवलज्ञान पर्याय में सिर्फ जान लूंगा। हे जीव! तू मेरा ध्यान मत कर, तू अपना ध्यान कर। क्योंकि महावीर भगवान ने आदिनाथ भगवान का ध्यान नहीं, बल्कि अपने आत्मा का ही ध्यान किया था। निजात्मा में स्थिर होने पर ही अंतर परिणति निर्मल होती है।**

ज्ञानी को अंतरंग में परिणति की निर्मलता होने से बाह्य में चारित्र की कमजोरी होने पर भी कर्मो की निर्जरा होती है। जबकि अज्ञानी अपनी मोहासक्ति की पूर्ति को व्यवहार नाम देकर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहता है। वह बार-बार कहता है कि मुझे यह कार्य करना नहीं चाहिए, परन्तु क्या करु? व्यवहार है। **ज्ञानी कहते हैं कि निश्चय प्रकट हुए बिना व्यवहार प्रकट नहीं होता। निश्चय को प्राप्त ज्ञानी को ही व्यवहार होता है।** अत: अज्ञानदशा में जिन-जिन विषयो में अपने मोह की पूर्ति होती हो, उन विषयो से विरक्त होने का प्रयास करना चाहिए।

२९. चैतन्यलोक

ज्ञायक की वचनातीत-विकल्पातीत अनुभूति होते ही प्रत्येक पर्याय में आनन्द का सागर उछलता है। अनन्तकाल व्यतीत होने के बाद ज्ञान पर्याय का ज्ञायक के साथ मिलन होता है, तब त्रिकाली ज्ञायक एवं पर्याय के बीच भेद समाप्त हो जाता है। ज्ञायक के अतिरिक्त सारा जगत शून्य लगता है।

यह तो स्वाभाविक है कि किसी वस्तु को जिस थैली में रखते हैं, वह थैली वस्तु तो बडी ही होती है। उसीप्रकार तीन लोक सहित अलोक भी जिसके ज्ञान की एक समय की पर्याय में ही समा जाता है, ऐसा चैतन्यलोक स्वरुप भगवान आत्मा तीन लोक से भी विशाल है, तीनों काल में महान है।

तीन लोक को जानने वाले केवली भगवान ने भी चैतन्य लोक को ही सारभूत जाना है। लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है और आत्मा भी असंख्यात प्रदेशी है। असंख्यात प्रदेश में व्याप्त होने पर भी आत्मा ज्ञानप्रदेश पर ही स्थित है। जिसप्रकार आकाश के बाहर जगत में कुछ भी नहीं है, उसीप्रकार चैतन्यलोक के बाहर जगत में कुछ भी नहीं है।

ज्ञानी कहते हैं कि तीन लोक से मेरा क्या प्रयोजन है? वस्तुत: **निज चैतन्यलोक ही वास्तविक लोक है, जिस चैतन्य लोक में तीन लोक सहित अलोक भी एक समय में एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं।**

जिसप्रकार गंगा नदी की लम्बाई एवं चौडाई अत्यंत विशाल होने पर भी वह नदी मेरी प्यास की आग बुझाने के लिए उपयोगी नहीं बनती। मेरी प्यास की आग बुझाने का कारण तो मेरे घर के निकट स्थित कुए का पानी ही होता है। उसी प्रकार तीन लोक की लम्बाई एवं चौडाई अत्यंत विशाल होने पर भी तीन लोक एवं तीन लोक में स्थित भौतिक वैभव मेरे सुख का कारण नहीं बनता। **ज्ञानी कहते हैं कि मेरे राग की आग बुझाने का एवं अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति का कारण तो एक मात्र निज चैतन्यलोक ही है, अत: लोकालोक से भी श्रेष्ठ निज चैतन्यलोक है।**

३0. पर की अपेक्षा और स्व की उपेक्षा

एक कमरे में बैठकर आत्मा की साधना करने वाले जीवों को यह याद रखना चाहिए कि आत्मा की साधना को मर्यादित स्थान में सीमीत नहीं होती। शरीर की प्रत्येक क्रिया के चलते-चलते ज्ञायक की जागृति ही आत्मसाधना है। जैसे कि, आप बाजार में कोई वस्तु लेने घर से निकले। दस मिनिट घर से दुकान तक जाने के लिए और दस मिनिट दुकान से घर तक वापिस आने के लिए और दो मिनिट दुकान में। इन बाईस मिनिट में कितने राग-द्वेष का पोषण कर लेते हैं। हम कहते हैं कि वस्तु लेने के लिए निकले हैं, परन्तु सूक्ष्मद्रष्टि से देखने पर हम समज़ सकते हैं कि वस्तु खरीदने से अधिक कार्य तो राग-द्वेष करने का ही किया है। यदि जाने-आने की बीस मिनिट में रास्ते पर इधर-उधर दुकानों को नहीं देखा होता और आत्मा के स्वरुप का चिन्तन किया होता तो! व्यर्थ में ही बीस मिनिट तक इधर-उधर देखकर कषाय करके कर्म बांधने की बजाय ज्ञायक के स्वरुप विचार किया जा सकता था। जो जीव बीस मिनिट तक ज्ञायक का विचार कर सके, ऐसा द्रढ हो जाता है, वह व्यक्ति दुकान में दो मिनिट भी ज्ञायक की जागृति रख सकता है।

बाह्य व्यवहार के नाम पर अपनी मोहासक्ति की पूर्ति करने वाला अज्ञानी कहता है कि जब तक गृहस्थदशा है, तब तक घर को साफ रखना चाहिए ऐसा मानकर अज्ञानी घर की सफाई में इतना व्यस्त हो जाता है, उसे जीवन का सूरज अस्त हो रहा है, इस बात का उसे पता ही नहीं चलता। वह सोचता है कि यदि घर की सफाई नहीं रखेंगे, तो इस घर के मेहमान बन जायेंगे। उसे मेहमान बनकर घर में नहीं रहना है, वह तो मालिक होकर रहना चाहता है।

ज्ञानी कहते हैं कि अपने घर में प्रवेश करते समय आपको यह जागृति रहनी चाहिए कि मैं गेस्ट हाउस में प्रवेश कर रहा हूँ। यह शरीररुपी

घर भी आत्मारुपी गेस्ट का हाउस ही है। गेस्ट हाउस में भी पहले से ही कह दिया जाता है कि बारह बजे चेक आउट।

ज्ञानी कहते हैं कि देहरुपी गेस्ट हाउस कुछ अलग प्रकार का है। इस गेस्ट हाउस में 'एनी टाईम चेक आउट' करना पड सकता है। **रात के बारह बजे से नया दिन शुरु होता है, उसीप्रकार इस जीवन के मरण के बाद नया जीवन शुरु होता है।**

याद रहे कि इस मनुष्य जीवन के बारह बज जाये उससे पहले ही -

- **एक आत्मा** का अनुभव कर लेना चाहिए, कि जिससे
- **दो द्रव्यों के अनुभवपूर्वक भेदविज्ञान** के बल से, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुपी
- **तीन रत्न** प्रकट होते हैं और आत्मा
- **चार गतियों** से मुक्ति पाने के कारणभूत
- **पंचम परम पारिणामिक भाव** में लीन होता है। अंतर्मुहूर्त काल में आत्मा की निर्विकल्प अनुभव के बल पर केवलज्ञान प्रकट होता है और आत्मा
- **छह द्रव्यों** के समुहरुप विश्व को सादि-अनन्त काल तक जानता है। अरिहंत अवस्था प्राप्त होने बाद मध्यलोक से लोकाग्र तक
- **सात राजु** का अन्तर एक समय में तब ही पार करता है, जब
- **आठ कर्मो** से सर्वथा मुक्ति मिलती है। उस परम पद को प्राप्त परमात्मा
- **नव देवताओं** में तो पूजे जाते हैं, साथ ही उन सिद्ध परमात्मा की
- **दशों दिशाओं** में ख्याति-प्रसिद्धि होती है। वर्तमान मनुष्य भव में आत्मा से परमात्मा, पशु से परमेश्वर, जीव से शिव होने का अवसर प्राप्त हुआ है। अब ऐसा ही समज़ो कि जीवन के
- **ग्यारह बज चुके हैं,** और

- **बारह बजने में थोडी-सी देरी है,** अत: अधिक समय व्यतीत न करके
- **एक ज्ञान साधन के माध्यम से अनन्त गुणों के घनपिण्ड ऐसे ज्ञायक तक पहुँचना ही साधक का साध्य होना चाहिए।**

अज्ञानी जीव व्यवहार का नाम लेकर भी पर में इतना तन्मय हो जाता है कि कदाचित् किसी कारण से उसके घर में सफाई नहीं हुई हो और कोई मेहमान घर पर आ जाये, तो अत्यंत आकुलित होकर है, सोचता है कि अरे, घर साफ नहीं है, वस्तुएँ इधर-उधर बिखरी हुई है, अब मेहमान क्या सोचेंगे? ज्ञानी कहते हैं कि अपने परिणामों को मलिन न करके, मेहमान की द्रष्टि में घर की स्वच्छता का विचार छोड और तू सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान में स्वच्छ हो जा, यही तेरे आत्मा के लिए बहूत है। आत्मज्ञान होने पर मिथ्यात्व का मल धूलने पर, कालांतर में मुनिधर्म अंगीकार करेगा तब एक दिन यह घर तो छूट जायेगा, साथ ही मुक्तिपुरी रुपी निजघर में प्रवेश करेगा तब देहरुपी घर से भी मुक्ति मिल जायेगी। **आशय यह है कि पर की महत्ता छूटे बिना विषय-कषाय से छूटना सम्भव नहीं है।**

कोई दूसरा मेरे बारे में क्या सोचेगा? अज्ञानी ने पर को इतनी महत्ता दी है कि मेहमान को भोजन कराने के बाद, यदि मेहमान ऐसा नहीं कहे कि, भोजन बहुत अच्छा था, तो भी उसे दु:ख होता है। वह सोचता है कि सुबह से मेहनत करके इतनी सारी चीजें बनाई फिर भी मेहमान ने तो थोडी सी भी प्रशंसा नहीं की। अज्ञानी छोटी-छोटी बातो को महत्ता देकर वह राई को ही पहाड बना देता है। ज्ञानी कहते हैं कि दूसरे के बारे में सोचना बन्द करके, पहले के बारे में सोच। दूसरा अजीव है और पहला जीव है। दूसरा पर है और पहला स्व है।

अज्ञानी दूसरों का नाम लेकर अपनी मलिन वृत्तियों की ही पूर्ति करना चाहता है। अपनी वासना को पूर्ण करने के लिए दूसरों का सहारा लेना और अपने दोष का आरोप दूसरो पर लगाना ही अज्ञानी की अज्ञानता है।

क्षणिक पर की महिमा छूटते ही, नित्य स्वभाव की महिमा प्रकट

होने पर जीव को एहसास होता है कि आत्मसाधना का समय निश्चित नहीं होता। साधक की साधना कुछ मिनिट, घण्टे या दिन के लिए नहीं होती। साधक का सम्पूर्ण जीवन साधनामय होता है। जैसे-अडतालीस मिनिट को एक सामायिक का काल कहते हैं, वहाँ घडी पास मे रखकर धर्म करने बैठने वाले व्यक्ति को यह बात जान लेनी चाहिए कि घडी को देखने से तो घडी का ध्यान होता है, आत्मा का नहीं। काल का ध्यान करने से नहीं बल्कि जीव का ध्यान करने से आत्मानुभूति होती है। पहले जीव द्रव्य को छोडकर छठवें काल द्रव्य में ही अटक जाने वाले को ज्ञायक की अनुभूति होना तो बहूत दूर है। वास्तव में ज्ञायक की जागृति ही सामायिक है। वह जागृति हरपल रह सकती है। साधक-साधन-साध्य ये तीनों निरंतर प्रत्यक्ष है, अतः साधना भी निरंतर होनी चाहिए। **साधक-साधन-साध्य ऐसे तीन भेदों का समाप्त हो जाना ही वास्तविक आत्मसाधना है।**

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि ज्ञान से ज्ञायक तक जाना, साधक का लक्ष्य नहीं होना चाहिए, बल्कि ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचना साधक का लक्ष्य होता है। **बुद्धं शरणं गच्छामि** एवं **अरहंते सरणं पवज्जामि**, इन दोनों कथनो में बहुत बडा अन्तर है। पहला कथन यह भावना व्यक्त करता है कि मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ और दूसरे कथन का आशय यह है कि मैं अरहंत की शरण तक पहूँचता हूँ। **जाने और पहुँचने में अन्तर है।** जो व्यक्ति लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जाता है, वह रास्ते में ही बैठा रह सकता है, रास्ते से ही वापिस लौट सकता है, रास्ते पर चलते-चलते किसी दूसरे रास्ते पर भी जा सकता है। अतः यह जरुरी नहीं है कि जाने वाले को लक्ष्य की प्राप्ति होगी ही होगी। परन्तु जो व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँच जाता है, उसे तो निश्चितरुप से लक्ष्य की प्राप्ति हो चुकी है। **यही रहस्य है कि साधक को ज्ञान से ज्ञायक तक जाना नहीं है, बल्कि ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचना है।**

ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचने का लक्ष्य जिसका है, ऐसे साधक को इस विषय पर विचार करना चाहिए कि ज्ञेयों के भेद के काल में भी ज्ञान

तो निरंतर अभेद ही रहता है। जानना-जानना तो अभेद ही रहता है। मैं तो अभेद ही रहता हूँ। ये जो अभेद है, वही ज्ञायक है। वही मैं हूँ। मैं ही वह ज्ञायक हूँ। यह ज्ञायक ही चिन्तन का विषय है।

ज्ञायकभाव का चिन्तन करने पर ही जीव पर से निरपेक्ष हो सकता है। ज्ञायक का चिन्तन-मनन करने से ही स्व की उपेक्षा और पर की अपेक्षा छूट जाती है।

अज्ञानी परपदार्थो में अनेक प्रकार की कल्पना करता है, स्वयं ही दु:खी होता है। समाज में होने वाली निंदा या प्रशंसा मेरे लिए नहीं है। निंदा एवं प्रशंसा मेरा स्वरुप नहीं है। फिर भी अज्ञानी को ऐसा ही भ्रम होता है कि उसने मेरी निंदा की और उसने मेरी प्रशंसा की। बबूल के कांटे भी मेरे लिए नहीं हैं और गुलाब के फूल भी मेरे लिए नहीं हैं। फिर भी अज्ञानी को ऐसा ही लगता है कि वह बबूल के कांटे मुझे लगने के लिए ही उगे हैं और गुलाब के फूल मेरे पर चढने के लिए उगे हैं। इसप्रकार की अनन्त कल्पना ही अज्ञानी के अनन्त दु:ख का मूल कारण है। **बबूल का कांटा और गुलाब का फूल दोनों से द्रष्टि हटाकर निजात्मा में स्थिर हो जाना ही पर से निरपेक्ष होना है। ज्ञानी पर से निरपेक्ष है, क्योंकि ज्ञानी को स्वयं की परिपूर्णता का निर्विकल्प अनुभव हो चुका है।** अज्ञानी भी स्वयं को परिपूर्ण मानने का अभ्यास करे तो वह भी पर्याय में परिपूर्ण हो सकता है।

किसी कवि ने व्यंग्य में कहा है कि रास्ते पर चलते-चलते तुझे पैर में कांटे इसलिए ही लगते हैं, क्योंकि तेरी निगाह फूल ही पर होती है। तू अनुकूलता पीछे इतना दौडता है, इसलिए ही प्रतिकूलता तेरे पीछे दौडती है। **जो व्यक्ति अनुकूलता के पीछे भागना बन्द कर देता है, उसके पीछे प्रतिकूलता भी नहीं भागती।** अनुकूलता से संयोग में स्वयं को सुखी नहीं मानने वाला, अनुकूलता के वियोग में भी स्वयं को दु:खी नहीं मानता। **पर का संयोग और वियोग जगत की द्रष्टि में तो होता है, परन्तु साधक की द्रष्टि तो संयोग एवं संयोगीभाव से भिन्न ज्ञायक पर ही होती है।**

प्रत्येक जीव अपने को ज्ञानी मानता है, परन्तु उसके ज्ञानीपने के श्रद्धान में परज्ञेयों की अपेक्षा होती है। जीव स्वयं को ज्ञेयों को जानने वाला ज्ञानी मानता है। रोटी बनाने वाली बाई भी अपने को रोटी का ज्ञान होने से ज्ञानी मानती है, दुकानदार भी अपने को दुकान चलाने का ज्ञान होने से ज्ञानी मानता है। परन्तु उनके ज्ञानी मानने में परज्ञेय की मिलावट है। पर की मिलावट वाला ज्ञानीपना सुख का कारण नहीं होता है।

मैं ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण हूँ, अतः मैं ज्ञानी हूँ। पर्याय से भिन्नता की बात तो बहुत दूर, परन्तु गुण भेदो से भी मैं भिन्न हूँ, अतः मैं ज्ञानी हूँ।

मैं अखंड, एक, अभेद ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा हूँ, ऐसे विकल्प को भी प्रधानता न देकर द्रष्टि भगवान पर ही होनी चाहिए। द्रव्य द्रष्टि करके, द्रव्य का चिन्तन करने पर, आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष अनुभव नियम से होता ही होता है।

३१. परद्रव्य मेरे निकट भी नहीं आता

परद्रव्य आत्मामय नहीं होता और आत्मा परद्रव्यमय नहीं होता। अज्ञानी प्रत्येक द्रव्य को संयोग की द्रष्टि से देखता है, जबकि ज्ञानी तो प्रत्येक द्रव्य को स्वभाव की द्रष्टि से जानते हैं और मानते हैं। कोई भी जड द्रव्य क्षेत्र की अपेक्षा चेतन के समीप आकर भी स्वभाव की द्रष्टि से देखने पर चेतन के समीप नहीं आता।

जिसप्रकार रुपये बैंक से घर तक आते हैं, फिर भी ज्ञानी मानते हैं कि रुपये मेरे निकट नहीं आये और न ही मेरे निकट आ सकते हैं। यदि वे रुपये अपने जडत्व को छोडकर चेतनरुप हो जाये, तो ऐसा समज़ना चाहिए कि वे रुपये मेरे निकट आये हैं, परन्तु ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं है। मेरा स्वरुप चेतनमय है, मैं स्वयं चेतनत्व से भरपूर हूँ, मैं ही चेतन हूँ, मैं ही ज्ञान हूँ। रुपये का स्वरुप जडमय है, रुपये जडत्व से भरपूर है, रुपये जड ही है, रुपये ज्ञान स्वभाव से रहित ही है।

जिसप्रकार कोई परद्रव्य मेरे समीप नहीं आता, उसीप्रकार मैं भगवान आत्मा भी अपने ज्ञान स्वभाव को छोडकर पुदगल के जड स्वभावरुप परिणमित नहीं होता हूँ, अतः मैं भी किसी परद्रव्य के समीप नहीं जाता हूँ और न ही जा सकता हूँ।

वन में ध्यानावस्था में इस शरीर के परमाणु वाघ आदि प्राणियों के शरीर में चले जायें, परन्तु मैं भगवान आत्मा वन में रहने वालें वाघ आदि प्राणियों के शरीर में जाने वाला नहीं हूँ। मैं भगवान आत्मा इस मनुष्य शरीर के साथ एकक्षेत्रावगाह रहकर भी मनुष्य शरीर में नहीं गया, वह मैं वाघ के शरीर में कैसे जा सकता हूँ? मेरा जानपना तो मेरी सत्ता में विद्यमान है, वह किसी भी शरीर में कदापि नहीं जा सकता। **मैं तो नित्य ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा सदैव सत्तास्वरुप तत्त्व हूँ।**

जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के परमाणु के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं

है, उसीतरह इस देह के परमाणु के साथ भी मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। परमाणु तो परमाणु है। अचेतन तो अचेतन है। जड तो जड है। पर तो पर है। समस्त पर पदार्थो से द्रष्टि हटकर ज्ञायकभाव में द्रष्टि स्थिर हुए बिना विकल्पातीत एवं देहातीत मुक्ति पाना सम्भव नहीं है।

जिसप्रकार गुड दुकान से घर आता है, अस्थिर होता है, तब अस्थिरता के काल में भी गुड अपने मीठेपने की स्थिरता में स्थित ही है। उसीप्रकार आत्मा लोक के सभी प्रदेशों पर गमनादि करता है, फिर भी अस्थिरता के काल भी अपने ज्ञान स्वभाव में स्थिर ही है।

कुछ शास्त्रों को पढने के बाद एवं प्रवचनों को सुन लेने के बाद जब अज्ञानी कहता है कि मुझे यह बात अच्छी तरह से समज़ में आ गई है कि यह शरीर एवं शरीर के संयोगी धन-पुत्रादि मेरे नहीं हैं, क्योंकि ये सब कुछ वर्षों तक ही आत्मा के साथ रहते हैं। परन्तु राग-द्वेष के विकारीभाव भी पर है, यह हमारी समज़ में नहीं आता। ज्ञानी उसे कहते हैं कि जो जीव, कुछ वर्षो तक साथ में रहने वाले शरीर एवं धन-पुत्रादि संयोगो को क्षणिक एवं पर जान सकता है, वह एक समय के लिए ही जिसका अस्तित्व है, ऐसे राग-द्वेष के भाव को तो आसानी से क्षणिक जान सकता है।

ज्ञानी तो कहते हैं कि पच्चीस वर्ष तक तेरे साथ रहने वाला घर भी तेरा नहीं है, तू ऐसा मानता है, तो एक समय के बाद जिसका नियम से अस्तित्व नहीं है, ऐसे क्रोध के भाव को तू अपना क्यों मानता है? भले ही तू कहता है कि तूने घर को अपना मानना छोड दिया है, परन्तु तुझे श्रद्धान में से अपनापना अब भी नहीं छूटा है। अतः हे भगवान आत्मा! स्वयं को क्रोधादि भावरुप मत मान। क्रोधादि भाव आत्मा की संतान है। जो अपने बेटे को भी पराया मान लेता है, वह व्यक्ति जगत के किसी भी पर संयोग को अपना नहीं मानता सकता। **जिसने संयोग एवं संयोगीभावों को क्षणिक जाना और माना, वही जीव स्वयं को नित्य ज्ञायक मानता है।**

द्रव्य की स्वतंत्रता को नहीं जानने वाला अज्ञानी मरण के समय चाहता है कि अपने पुत्र को अपने निकट देखूं। अतः वह मरने से पहले अपने बेटे को अमेरिका से भी भारत बुलाना चाहता है। उसे बहूत दूर

रहनेवाला बेटा बहूत याद आता है। लोक में कहा जाता है कि दूर के ढोल सुहावने। अलौकिक मार्ग में तो यहाँ तक कहते हैं कि दूर के ढोल ही सुहावने नहीं होते, बल्कि जगत के प्रत्येक क्षणिक पदार्थ दूर से ही सुहावने लगते है। ज्ञानी जानते हैं और मानते हैं कि बेटा अमेरिका में हो या भारत में हो, बेटा स्वद्रव्य की सत्ता में कहीं भी नहीं है। मेरे ज्ञान का ज्ञेय ही है। वह बेटा ज्ञानस्वभाव के निकट कदापि नहीं आ सकता है।

जिसप्रकार अमेरिका से भारत आने वाला बेटा ज्ञान स्वभाव के निकट नहीं आता है, उसीप्रकार भारत से अमेरिका जाने वाला बेटा भी ज्ञान स्वभाव से दूर नहीं जाता है। क्योंकि जो वस्तु ज्ञान स्वभाव के निकट ही नहीं आई हो, वह वस्तु ज्ञान स्वभाव के दूर कैसे जा सकती है? परद्रव्य नित्य पर की सत्ता में ही विद्यमान है और स्वद्रव्य नित्य स्व की सत्ता में विद्यमान है। ज्ञानी अपने ज्ञान में आने वाले और जाने वाले को जानते हैं परन्तु द्रष्टि में वही सत्ता स्वरुप भगवान आत्मा है, जो न कभी आता है, न कभी जाता है, न कभी पलटता है, जो चैतन्यरस से परिपूर्ण सत्ता स्वरुप है।

दो भिन्न-भिन्न द्रव्य एक प्रदेश पर रहने पर भी अपने-अपने लक्षणों को छोडते नहीं है। चेतन आत्मा जड देह में रहा फिर भी देह चेतनमय नहीं हुआ, जिसप्रकार थैली में गुड के रहने से थैली मीठी नहीं हो जाती। अनेक वर्षो के बाद थैली में रखे हुए गुड को थैली से अलग करने पर थैली को जीभ रखकर थैली का स्वाद चखा जाये, तब जो मीठे स्वाद का अनुभव होता है, वह मीठा स्वाद भी थैली का नहीं, बल्कि वह मीठापना गुड का ही है। क्योंकि मीठापना गुड में होता है, थैली में नहीं। उसीप्रकार आत्मा में ही ज्ञान स्वभाव होता है। जब देह में ज्ञान होने आभास हो, तब भी यह जागृति रहनी चाहिए कि देह में तो जानने का स्वभाव है ही नहीं, जानने का कार्य तो आत्मा का है। आत्मा का जाननेरुप कार्य देह के योग में रहकर भी देह में मिल नहीं जाता। देह कदापि आत्मा नहीं बन जाता। यदि ऐसा होता तो आत्मा की तरह देह का भी मोक्ष हो जाता।

देह की अनित्यता एवं असारता जाने बिना, माने बिना आत्मा का आत्मा में स्थिर होना असम्भव है। आत्मा में स्थिर हुए बिना आत्मा का देह से भी मुक्त होना असम्भव है।

३२. जागृति (नित्यक्रम)

जागृति ही निर्विकल्प अनुभूति तक पहुँचने का साधन है। जो जीव विवेकपूर्वक जीवन जीते हैं, वे जीव ही प्रतिसमय जागृत रह सकते हैं। जब ज्ञानी उपदेश देते हैं कि विवेक से चलना चाहिए, विवेक से खाना चाहिए, विवेक से बोलना चाहिए। चलना, खाना, बोलना इत्यादि शरीर की प्रत्येक क्रिया विवेकपूर्वक करनी चाहिए अर्थात् प्रत्येक क्रिया जागृतिपूर्वक होनी चाहिए।

ज्ञानी के उक्त उपदेश का आशय बाह्यद्रष्टी अज्ञानी मात्र इतना समज़ता है कि विवेक से चलना अर्थात् चार हाथ जमीन देखकर चलना चाहिए, जिससे किसी जीव का घात न हो। विवेक से खाना अर्थात् अभक्ष्य पदार्थो का भक्षण नहीं करना चाहिए, जिससे किसी जीव की हिंसा न हो और हमारा जीवन सदाचारमय हो। विवेक से बोलना अर्थात् हित, मित और प्रिय वचन ही बोलना चाहिए, जिससे किसी जीव की भावना को ठेस न पहुँचे।

ज्ञानी की द्रष्टि अंतर्मुख होती है, अतः ज्ञानी विवेक का अदभूत रहस्य समज़ते हैं कि चलते वक्त जागृति रहनी चाहिए कि मैं भगवान आत्मा चलने वाला नहीं हूँ, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। खाते वक्त जागृति रहनी चाहिए कि मैं भगवान आत्मा खाने वाला नहीं हूँ, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ। बोलने वक्त जागृति रहनी चाहिए कि मैं भगवान आत्मा बोलने वाला नहीं हूँ, मैं तो मात्र जानने वाला हूँ।

समस्त प्रकार की शरीर की क्रिया से भिन्न मैं त्रिकाली भगवान आत्मा मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, यह विवेक ही निजात्मा को अनन्त संसार परिभ्रमण एवं जन्म-मरण के घात बचाने में समर्थ है।

निजात्मा से द्रष्टि हटकर विषयों में न भटकें, इसके लिए पल-पल जागृत रहना चाहिए। जब आप अपने आत्मानुभूतिरुपी घर में नहीं रहते हैं या पंचेन्द्रिय के विषयों में सोते रहते हैं, तब ही कर्मरुपी चोर आपके घर में प्रवेश

करते हैं। जब शेर जागता है, तब हिरण भागता२ है, ऐसे ही आत्मारुपी शेर जागने पर कर्मरुपी हिरणादि प्राणी भाग जाते हैं, सहज ही नष्ट हो जाते हैं।

जैसे पैर में कांटा चूभ जाये, तब वह कांटा बार-बार खटकता है। ऐसे ही विकल्प के कांटे निरंतर खटकने चाहिए। उन कांटों को बाहर निकालने के लिए मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ ऐसी भावभासन सहित जागृति रहनी चाहिए।

जिसप्रकार आँख में धूल पडने पर आँख खटकती है, परन्तु शरीर के अन्य अंग पर धूल पडने पर अन्य अंग नहीं खटकते हैं। उसीप्रकार ज्ञानी का जीवन आंख जैसा होता है और अज्ञानी का जीवन शरीर के अन्य अंग जैसा होता है। ज्ञानी को विकल्पों कांटे बार-बार खटकते हैं, जबकि अज्ञानी को विकल्पों के कांटे नहीं खटकते।

जब आपको पूछा जाये कि आपका असली नाम क्या है? तब आपको यह एहसास होना चाहिए कि मैं तो शुद्धात्मा हूँ। आपके शरीर के नाम से जितना भी व्यवहार होता हो, वहाँ यह जागृति रहनी चाहिए कि वह मेरा असली स्वरुप नहीं है, क्योंकि मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर के नाम का सम्मान मेरा सम्मान नहीं है या शरीर के नाम का अपमान मेरा अपमान नहीं है। कोई पूछे कि आपको कितनी संतान है? कितने भाई-बहन है? उत्तर देते समय आपको यह जागृति रहनी चाहिए कि माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्ध देह के ही है। **जब आत्मा का देह से ही सम्बन्ध नहीं है, तब अन्य सम्बन्धों का कहना ही क्या?**

यदि किसी ने आपको पूछा कि आपका वजन कितना है? उत्तर देते समय आपको यह जागृति होनी चाहिए कि मैं भगवान आत्मा हूँ। वजन तो पुदगल द्रव्य में ही होता है। कोई पूछे कि आपकी कितनी उम्र है? तब याद रखो कि मैं अनादि-अनन्त त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा हूँ। कोई पूछे कि आपकी मोटाई कितनी है? याद करो कि **मैं असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त होने पर भी अखण्ड, एक, शुद्ध, भगवान आत्मा हूँ।**

यदि कोई पूछे कि आप कितने बजे सोते हैं और कितने बजे जागते हैं? याद रखो कि **मैं तो त्रिकाल जागृत हूँ।** जब भी आँख खुले तब

यह जागृति बनी रहे कि **मैं ज्ञानरुप परिणमित भगवान आत्मा त्रिकाल जागृत हूँ।** यदि कोई पूछे कि आपने स्नान किया या नहीं? तब यह जागृति रहे कि **मैं भगवान आत्मा त्रिकाल निर्मल हूँ,** मुझे पानी से स्नान करने की क्या आवश्यकता है? यदि कोई आपको कहे कि घर में रहना तो है और स्नान नहीं करना है, यदि कोई आपको, आपके ही घर से बाहर निकाल दे तो? आपको यह जागृति रहनी चाहिए कि मेरा घर तो चैतन्यलोक है, **मैं अनादि-अनन्त अपने चैतन्य महल में रहने वाला हूँ।** और हाँ, कोई भी व्यक्ति मुझे तीन लोक में से बाहर निकाल नहीं सकता।

यदि कोई पूछे कि आपने आने वाले कल के लिये कोई सुरक्षा की है या नहीं? याद रखो, **मैं तो अनादि-अनन्त स्वयं सुरक्षित तत्त्व हूँ।** फिर वह पूछे, तो क्या आप दुकान पर जाकर घन कमाना छोड देंगे? याद करो, परिणति की निर्मलता बढती जाये, यही मेरी असली कमाई है। फिर वह पूछे कि आप रुपये कमाना छोड देंगे तो कल खायेंगे-पीयेंगे क्या? आप याद रखो कि मैं आहार-पानी से जीवित नहीं हूँ और न ही आयु कर्म के उदय से जीवित हूँ। आहार-पानी बहिरंग निमित्त है और आयु कर्म का उदय अंतरंग निमित्त है। तो फिर आप किसके कारण जीवित है? **मैं तो अपनी चैतन्य शक्तिरुप उपादान कारण से जीवित हूँ।**

ज्ञानी को द्रव्य की नित्यता एवं देह की अनित्यता की श्रद्धा इतनी द्रढ होती है कि किसी भी व्यक्ति के मरण के समाचार ज्ञानी को असर नहीं करते। ज्ञानी मानते हैं कि आत्मा नित्य है। किसी भी व्यक्ति के मरण के समाचार सुनते ही यह जागृति रहनी चाहिए कि यह समाचार झुठे है। वह आत्मा कभी मर ही नहीं सकता और देह तो आत्मा के योग में भी मरा हुआ ही है।

यदि कोई कहे कि आपको देखकर तो ऐसा लगता है कि आप करोडपति हो? अरे भाई! **मैं अनन्त गुणाधापति हूँ।** अनन्तपति आत्मा को करोडपति कहकर अपमान मत करो। फिर कोई पूछे कि आपको पैसे पर भरोसा है पुण्य पर? आपका जवाब हो कि दोनों पर नहीं। क्योंकि दोनों ही क्षणिक है, विनश्वर है। **मुझे अपनी अनन्त शक्ति पर भरोसा है।**

आपके पास पहिनने के लिए कितना सोना, हीरा, रत्न आदि है? मुझे पृथ्वीकायिक जीव के मुर्दे को पहिनने का शौक नहीं है। **आत्मा की शोभा तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रुपी रत्नत्रय के कारण है।** मुम्बई मोहमयी नगरी को स्मशान भी इसीलिए कहा है कि लोग हीरे आदि पृथ्वीकायिक के मुर्दे को किसी के गले के हार में, किसी की कान की बुट्टियों में, किसी के हाथ की चुडियों में दफ़नाने के लिए इकट्ठे होते हैं। भाई! हीरे आदि पथ्थर के साथ काम करते-करते आत्मा पत्थरदिल न हो जाये, अचेतन हीरे के साथ काम करते-करते चैतन्यस्वरुपी हीरे की विस्मृति न हो जाये, उसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। हीरे को देखते-देखते आंख कमजोर हो जाये, इससे पहले ही अंतर्द्रष्टि खुल जानी चाहिए, **अंतर्द्रष्टि खोलने के लिए आत्मारुपी हीरे के गुणगान गाने वाली जिनवाणी माता का पठन-अध्ययन-मनन-चिन्तन आदि करके आँख आदि इन्द्रियों का सदुपयोग कर लेना चाहिए।**

आपने आत्मा की जागृति की बहुत अच्छी बातें बताई। अब समज में आया कि संसार में कहां सुख है, हम तो खाली हाथ आये थे और खाली हाथ ही जायेंगे। अहो! अब भी आपकी द्रष्टि देह पर ही है। **मैं भगवान आत्मा तो माता के गर्भ में बिना हाथ का ही आया था और बिना हाथ का ही जाऊंगा और वर्तमान में भी बिना हाथ का ही हूँ। अतः यह भ्रम छोड देना कि इस दुनिया के चलने में कहीं न कहीं मेरा हाथ है!**

मैं पश्चिम की ओर बैठा हूँ, तो आप पूर्व की ओर बैठिए, उत्तर या दक्षिण की ओर नहीं। भाई! **आत्मा की कोई दिशा नहीं होती।** सक्कर की कोई दिशा नहीं होती, वह तो सर्वांग मीठेपने से भरपूर है। ऐसे ही आत्मा की दिशा नहीं होती, वह तो अपने ज्ञानरस से भरपूर है। **आत्मा की अनुभूति में पश्चिम या पूर्व नहीं होता, आत्मा का अनुभव तो अपूर्व होता है।**

कोई पूछे कि आज शाम को सात बजे आप क्या करने वाले है? याद रखो कि मैं तो अनादि-अनन्त नित्य कार्यरत त्रिकाल जानने वाला तत्त्व हूँ। जानने के अतिरिक्त क्या कर सकता हूँ? आधी रात को आप

का देह छूट जाये तो? **जो देह मुझ से अनादि-अनन्त छूटा ही है, उसके छूटने के विकल्प एवं भय से क्या लाभ?**

यदि कोई कहे कि मुझे लगता है कि आप अवश्य मोक्ष में जायेंगे। आने-जाने की बात मत करो, मैं तो त्रिकाल मुक्त स्वरुप ही हूँ। कोई पूछे कि आपकी ऐसी निर्मल दशा कैसे प्रकट हुई? याद रखो कि **यह निर्मल दशा मेरी नहीं है। जिसके आश्रय से यह निर्मल दशा प्रकट होती है, वह त्रिकाली भगवान आत्मा मैं हूँ।**

ठीक है, मैं चलता हूँ, अब दोबारा कब मिलेंगे। अरे! जब हम एक बार ही मिले नहीं है, मिलने की बात आई कहाँ से? नहीं मुझे तो आपसे मिलना ही है। अच्छा ठीक है मिलने की बहूत इच्छा है तो फिर सिद्धशिला पर मिलेंगे। क्या मैं वहाँ आपके पास आपके साथ बैठ सकूंगा? मेरे साथ नहीं, मेरे अन्दर भी बैठ सकते हो। तो फिर मिलना पक्का? नहीं, वहाँ भी एक सिद्ध भगवान में अनन्त सिद्ध भगवान रहते तो हैं, परन्तु मिलना वहाँ भी नहीं होता।

आत्मसाधना आधार जागृति ही है। द्रव्य द्रष्टि का इतना जोर होना चाहिए कि पर्याय में से एकत्व का भाव ही छूट जाये। ध्यान करने वाला मैं नहीं, बल्कि जिसका ध्यान होता है, वह त्रिकाली ज्ञायक मैं हूँ। जागृति सम्बन्धी उपरोक्त किसी भी वाक्य का लोक व्यवहार में प्रयोग करके किसी भी प्रकार से स्वच्छंदी नहीं होना है। अंतर परिणति में ऐसी ज्ञानधारा की जागृति बनी रहे, इसी हेतु से यह साधना विधि बताई गई है।

कोई व्यक्ति उपरोक्त कथन का आशय न समज़कर निश्चयाभासी होकर प्रवर्तन करेगा, तो उसका अहित ही होगा। यदि वह व्यक्ति उस कथन को नहीं भी पढता, तो भी उसे तो आत्मा के स्वरुप की अनुभूति नहीं होने से अहित ही होने वाला था और अहित हुआ। कोई इस कथन से स्वच्छंदी हो जायेंगे तो? ऐसा विचार करके ज्ञानी तत्त्व की सत्य प्ररुरणा एवं ज्ञायक भाव का स्वरुप समज़ना बन्द तो नहीं कर देते। अतः ज्ञानी का आशय समज़कर थोडा-सा भी विलम्ब किये बिना शीघ्रातिशीघ्र आत्मा का कल्याण कर लेना चाहिए।

३३. भावभासन

अनन्त सिद्धों की सत्ता का स्वीकार करके, उन सिद्धों को अपनी श्रद्धा में स्थापित करके आत्मसाधना प्रारंभ होती है। भूतकाल में अनन्त केवली भगवान ने अपूर्व पुरुषार्थ के बल पर आत्मा का अनुभव किया है, अतः आत्मानुभूति असम्भव नहीं है, मुझे भी आत्मा अनुभव अवश्य होगा ही होगा, ऐसी द्रढतापूर्वक आत्मसाधना का पुरुषार्थ करना चाहिए।

जगत के समस्त क्षणिक पदार्थो का निर्णय करके जगत से उदासीन होना चाहिए। जगत में परद्रव्य की सत्ता तो है, परन्तु उन परद्रव्यों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है, ऐसा निर्णय करके स्वयं की नित्यता का विचार करना चाहिए कि जिससे अपने शुद्ध अस्तित्व का भावभासन हो।

भावभासन का अर्थ यह है कि जो भगवान आत्मा सत्ता स्वरुप है, वह चैतन्य स्वरुपी भगवान आत्मा त्रिकाल प्रकट ज्ञानज्योति मात्र है, उस चैतन्य की अनुभूति ही मेरी अनुभूति है, उस अनुभूति के बाहर मेरा कहीं भी अस्तित्व नहीं है। चैतन्य, चैतन्य, चैतन्य, चैतन्य... अंतरंग में ऐसी निरंतर विचारधारा बहती है, तब चैतन्य के रस का ही वेदन होता है।

साधक को यह जागृति होनी चाहिए कि चैतन्य के विचार में भी चैतन्य का जानपना हो रहा है, वह जानपना ही मैं हूँ। जो जानपना है, वही मैं हूँ, जो जानपना है, वही मैं हूँ, जो जानपना है, वही मैं.... इसप्रकार जानपने में निरंतर धाराप्रवाह से यह चिन्तन होता रहता है कि मैं भगवान आत्मा जानने वाला तत्त्व हूँ। आकाश के असंख्यात प्रदेशों पर व्याप्त होने पर भी अपने जानपने में व्याप्त हूँ। यह ज्ञान असंख्यात प्रदेशों पर व्याप्त होने पर भी अपने एकपने को नहीं छोडता। अनेक पर्यायरुप परिणमित होकर भी ज्ञान तो मात्र ज्ञानरुप ही रहता है, वही मैं हूँ।

विकल्प की उत्पत्ति के काल में भी विकल्प का भावभासन न होकर ज्ञान का भावभासन होना चाहिए। यह जो विकल्प जानने में आ रहा है, वह

विकल्प का स्वरुप नहीं है। जो जानने में आ रहा है, वह ज्ञान का स्वरुप है, ज्ञान का परिणमन है, वह ज्ञान ही है, वह आत्मा ही है, वही मैं हूँ। जानपना अनन्तकाल तक रहने वाला नित्य है। मैं अनादिकाल से जानने वाला हूँ, मैं आज भी जानने वाला हूँ, मैं अनन्तकाल तक जानने वाला हूँ। मैं त्रिकाल जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ।

वृत्ति की मलिनता के कारण जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, उन विकल्पों की अनुभूति होना इस बात को सिद्ध करता है कि जीव को विकल्प की ही रुचि है। विकल्प की रुचि ही उपयोग को विकल्प की जाल में भ्रमित करती है। जब यह निर्णय होता है कि जानपने से बाहर मेरा अस्तित्व है ही नहीं, तब विकल्प में भी मेरा अस्तित्व नहीं। मैं तो ज्ञान मात्र हूँ। विकल्प, विकल्प में है और जानपना, जानपने में है। यहाँ तक कि विकल्प, विकल्प है और जानपना, जानपना है। पर, पर है और स्व, स्व है।

निरंतर बहने वाली ज्ञान की धारा में व्याप्त ज्ञान ही मेरे सुख का कारण है। मुझ में सुख है ऐसा नहीं, बल्कि मैं स्वयं सुख स्वरुप हूँ। मैं स्वयं सुख हूँ। मैं स्वयं सुख ही हूँ। मैं स्वयं सुख ही हूँ, ऐसी प्रतीति एवं अनुभूति ही अतीन्द्रिय सुख है। एक साल, दो साल, दस साल, सौ साल, हजार साल, लाख साल, करोड साल... अनन्त काल... तक मैं जानने वाला ही हूँ। यह ज्ञानधारा अनन्तकाल बहने वाली है, अतः क्षणिक विषय-कषाय से मेरा क्या प्रयोजन?

जानपना है वही मैं हूँ, जानपने का जो वेदन है, वही मेरा वेदन है, वही मैं हूँ। किसी भी संयोग एवं वियोग के काल में यह जानपना कदापि प्रभावित नहीं होता, क्योंकि वे परपदार्थ जानपने में प्रवेश ही नहीं करते। ज्ञान तो परिपूर्ण है, उसे पूर्ण होने के लिए किसी भी ज्ञेय की कोई अपेक्षा नहीं है। ज्ञान की प्रत्येक पर्याय में परिपूर्णता है। ज्ञान के प्रत्येक पर्याय में द्रव्य की सर्वांगता गर्भित है। अतः प्रत्येक पर्याय में अपनी परिपूर्णता का अनुभव करना चाहिए।

सागर की एक बूंद चखने मात्र से सागर के खारेपने का अनुभव होता है, ज्ञान की एक समय की निर्मल पर्याय में ज्ञानवान त्रिकाली भगवान की अनुभूति होती है। भगवान आत्मा परिपूर्ण है, उसीप्रकार

ज्ञान की प्रत्येक पर्याय जानपने से परिपूर्ण है।

अपनी परिपूर्णता की जागृति ही स्वयं को पर से निरपेक्ष करती है। ऐसी द्रढ श्रद्धा के बल पर विकल्प, कषाय, आकुलता, दु:ख आदि समस्त विकार सहज ही विलय को प्राप्त होते हैं। जानपने की अनुभूति होते ही, भूतकाल में जो भी ज्ञेय, ज्ञान में जानने में आये थे, उन ज्ञेयों की आसक्ति भी छूट जाती है। क्योंकि जानपने की अनुभूति में एक मात्र त्रिकाली ज्ञायक की ही अनुभूति होती है, अन्य किसी भी परज्ञेयों की नहीं।

ज्ञान में एकत्व होते ही ज्ञान का वेदन और संवेदन अनुभव में आता है, ज्ञेयों का वेदन छूटने लगता है। ज्ञान स्वभाव की नित्यता ही मेरी नित्यता है। ज्ञान नित्य है, सो मैं ही नित्य हूँ। ज्ञान की सत्ता है, सो मेरी ही सत्ता है। ज्ञान का वेदन है, सो मेरा ही वेदन है। यह जो अनुभव है, वह भी मेरा ही अनुभव है।

जब भाषा, शब्द एवं ध्वनि सम्बन्धी विकल्पों का भी ज्ञान में प्रवेश नहीं है, तो भाषावर्गणारुप ध्वनि का मेरे ज्ञान में प्रवेश कैसे हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता। यह जो शब्द पढने में आ रहे है, वह मेरा स्वरुप नहीं है। शब्द का जो ज्ञान है, वह ज्ञान भी मेरा स्वरुप नहीं है क्योंकि वह शब्द का ज्ञान है। ज्ञेय का ज्ञान मेरा स्वरुप नहीं है। ज्ञान का त्रिकालवर्ती किसी भी ज्ञेय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान जानने रुप परिणमित हो रहा है, वह चैतन्य ज्योति स्वरुप ज्ञानमात्र मैं हूँ, वही मैं हूँ, वही मैं हूँ...।

शरीर के परमाणु का आत्मा के ज्ञान प्रदेश पर प्रवेश नहीं है। ज्ञान ज्ञानरुप रहकर, मैं स्वयंरुप रहकर, मैं निरंतर जानपनेरुप रहकर, मैं निरंतर अपनेरुप रहकर, मैं निरंतर अपनी सत्तारुप रहकर, मैं स्वयं ही परिणमित हो रहा हूँ। **ज्ञान के परिणमन में परद्रव्य का प्रवेश नहीं है, परद्रव्य सम्बन्धी विकल्प भी नहीं है, ज्ञेयों के भेद भी नहीं है। ज्ञान का परिणमन अपने चैतन्यपने का प्रकट स्वरुप है। अत: चैतन्य तत्त्व में ही एकत्वपने का भावभासन होना चाहिए।**

मैं ही त्रिकाली भगवान आत्मा हूँ, ऐसे भावभासन सहित एकत्वपूर्वक

होने वाला अनुभव ही आत्मा का अनुभव है। मैं ही भगवान आत्मा हूँ, ऐसे भावभासनरुप विकल्पों में भी अटकना नहीं चाहिए, उन विकल्पों में भी संतुष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि भावभासनरुप विकल्प भी शुभभाव है, मै विकल्परुप नहीं हूँ। जब शुद्धभाव भी मैं नहीं हूँ, तो मैं शुभभाव कैसे हो सकता हूँ? शुद्धभाव जिस द्रव्य पर द्रष्टि करने से, जिस द्रव्य में एकत्व करने से प्रकट होता है, वह त्रिकाली, ध्रुव, पूर्ण निर्विकल्प भगवान आत्मा मैं हूँ। **शुद्ध भाव नवीन प्रकट होता है, शुद्ध द्रव्य त्रिकाल प्रकट है। मैं त्रिकाल प्रकट शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ।**

इसप्रकार भावभासन सहित अपनी शुद्धता एवं अपने एक अभेद स्वरुप का विचार करने पर ज्ञायक की अनुभूति होती है। **ज्ञायक का विचार ही ज्ञायक की अनुभूति में परिणमित हो जाता है। परन्तु याद रहे कि भावभासन सहित तत्त्वविचार हो और तत्त्वविचार में भी एकत्व या संतुष्टि न हो। ज्ञायक की शुद्धता का विचार भी मैं नहीं हूँ, मैं तो त्रिकाल सत्ता स्वरुप शुद्ध द्रव्य हूँ।**

जब भी शरीर की क्रिया या श्वासोच्छवास की ओर उपयोग जाता है, तब जो ज्ञान का वेदन होता है, वह वेदन भी जानपना ही है। वह वेदन भी ज्ञान ही है। वह ज्ञान मैं ही हूँ। जो ज्ञान होता है, वह ज्ञेयों का ज्ञान नहीं है। श्वासोच्छवास का जो ज्ञान होता है, वह श्वासोच्छवास का ज्ञान नहीं है, बल्कि आत्मा का ज्ञान ही है। वह ज्ञान आत्मा ही है, ऐसा द्रढ निश्चय ही आत्मानुभूति का एक मात्र उपाय है। तत्त्व के द्रढ निर्णय के बल पर ऐसा अनुभव होता है कि मैं ही ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा हूँ।

भूतकाल में अनन्त सिद्धों ने इस मार्ग को अपनाया हैं, अनन्त केवली परमात्मा इस निर्विकल्प अनुभूति स्वरुप मोक्षमार्ग पर चलकर मुक्त हुए हैं। मैं ज्ञायक हूँ, ऐसी अनुभूति ही एक मात्र मोक्षमार्ग है, शेष सब उन्मार्ग है। आत्मा का स्वरुप त्रिकाल एक है, अतः आत्मा के मोक्ष का मार्ग भी त्रिकाल एक ही है। चतुर्थकाल हो या पंचमकाल हो, निर्विकल्प स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मानुभूति ही मुक्ति का मार्ग है। द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के भेद के कारण मोक्षमार्ग के स्वरुप में भेद नहीं होता है, मोक्षमार्ग इन सभी

भेदों में भी अभेद ही रहता है।

राग मेरा स्वरुप नहीं है, ऐसे विकल्प के काल में भी जो नित्य ज्ञान विद्यमान है, वह ज्ञान ही मेरा असली स्वरुप है। जैसे-जैसे अस्ति स्वरुप ज्ञायक भगवान आत्मा में एकत्व होने लगता है, वैसे-वैसे नास्ति स्वरुप अरागी, अद्वेषी, आदि विकल्प भी छूटने लगते हैं।

जैसे किसी बच्चे के हाथ में से एक खिलौना छूडाना हो, तो उसे उससे भी अच्छा दूसरा खिलौना देने पर पहला खिलौना सहज ही छोड देगा। उसीप्रकार अज्ञानी जीव को ज्ञायकभाव का स्वरुप ग्रहण कराने पर जड पदार्थो के स्वरुप से सहज ही द्रष्टि छोड देगा। यहाँ कहते है कि बच्चे को दूसरा खिलौना देने की भी आवश्यकता है। दूसरे खिलौने का स्वरुप समज़ने पर वह बच्चा सहज दूसरा खिलौना पकड लेता है और पहला खिलौना छोड देता है। उसीप्रकार अज्ञानी जीव को ज्ञायकभाव स्वरुप ग्रहण कराने पर भी वह ज्ञायकभाव का स्वरुप ग्रहण करेगा नहीं। परन्तु जब वह ज्ञायकभाव को महान जानेगा, मानेगा तब सहज ही ज्ञायक में स्थिर हो जायेगा और परपदार्थो से सहज ही निवृत भी हो जायेगा।

अनुभूति मात्र ज्ञान ही मेरा स्वरुप है। जितने अंश में ज्ञान में स्थिरता होती है, उतने अंश में विकल्प की गति भी मंद होने लगती है। मंद विकल्प के काल में पुरुषार्थ की गति अत्यंत शीघ्रता से बढती जाती है, परन्तु साधक जीव का लक्ष्य वहाँ जाता नहीं है। **साधक की द्रष्टि पुरुषार्थ पर नहीं, बल्कि पुरुषार्थ के आधारभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा पर ही है। ज्ञानी का उपयोग तो उपयोग में होता है।** ज्ञानी का उपयोग तो ज्ञानरुप परिणमित होकर भी ज्ञान की नित्यता को नहीं छोडता है। मैं स्वयं अपनेरुप ही परिणमित हो रहा हूँ। मैं त्रिकाल सत्ता स्वरुप ज्ञायक भाव हूँ। ज्ञायक भाव ही मेरी परिपूर्णता का सूचक है। मैं अनादि-अनन्त परिपूर्ण शुद्ध ज्ञायक भाव हूँ। मेरी परिपूर्णता का आधार कोई परद्रव्य नहीं है, मैं स्वयं अपने कारण परिपूर्ण हूँ। अतः मुझे किसी भी परद्रव्य का भय नहीं है, परद्रव्य सम्बन्धी विकल्प नहीं है। इसप्रकार भावभासन सहित तत्त्वविचार की धारा बहती रहे, यही आत्मसाधना के जिज्ञासु साधक की साधना है।

३४. चिन्तन का विषय

जो आत्मा द्रष्टि का विषय है, वही आत्मा चिन्तन का भी विषय है। भगवान आत्मा का ध्यान करते वक्त यदि उसका भाव ग्रहण किया, तो वह चिन्तन अनुभूति की ओर ले जाता है, परन्तु भाव ग्रहण किये बिना होने वाला आत्मा चिन्तन आकुलता का कारण बनता है। मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ... ऐसा चिन्तन करते वक्त ज्ञायक का भाव पकड में आना चाहिए। ज्ञायक अर्थात् जानना-देखना आदि अनन्त कार्यरुप परिणमित होने पर भी जो परिपूर्ण निजभाव त्रिकाल टिककर रहता है, वही मैं हूँ।

आत्मा का चिन्तन करते वक्त जो भी विकल्प उत्पन्न होते हैं, उन विकल्पों को प्रधानता नहीं देनी चाहिए। विकल्पों को प्रधानता देने पर उपयोग ज्ञायक से हटकर विकल्पों में ही अटक जाता है। ज्ञान की मीठी धारा को जानो, विकल्पों की खारी तरंगो को नहीं। जीव को राग का विषय ही नहीं, बल्कि द्वेष का विषय भी याद आता है, उसे मित्र की तरह शत्रु भी याद आता है। अतः ऐसा नहीं मानना चाहिए कि जिसके प्रति राग होता है, वही याद आता है। खास बात तो यह है कि जीव ने जिसे प्रधानता दी, वही उसके ज्ञान में पकड में आता है। जिसने विकल्पों को प्रधानता दी, उसे विकल्प जानने में आते हैं और जिसने ज्ञान को प्रधानता दी, उसे मात्र सामान्य ज्ञान जानने में आता है।

परपदार्थ सम्बन्धी समस्त विकल्प छूटे बिना जीव को ज्ञायक की चिन्तनधारा प्रारम्भ नहीं होती। लोक में किसी जीव को गृहित मिथ्यात्व पुष्ट करता हुआ जानकर जब कोई व्यक्ति उस जीव के सम्बन्ध में ऐसा समाधान कर लेता है कि जिसके संसार समुद्र का किनारा दूर होता है, उसे सत्य धर्म धारण करने का भाव भी नहीं आता। ज्ञानी कहते हैं कि इसप्रकार समाधान कर लेने से भी आपने धर्म धारण नहीं किया। उस जीव का संसार परिभ्रमण होने वाला है या नहीं होने वाला है, इन सभी विकल्पों

से मेरा क्या प्रयोजन है? **जिनका संसार परिभ्रमण होना रुक गया है, ऐसे वीतरागी एवं सर्वज्ञ भगवान के विकल्पों से भी निवृत्त होना है, तो रागियों के परिभ्रमण के विकल्पों की बात तो बहुत दूर है।**

मैं स्वयं को भूलकर उन परद्रव्य सम्बन्धी विकल्पों में क्यों अटक जाता हूँ? ऐसा विचार करके समस्त पर सम्बन्धी अप्रयोजनभूत विकल्पों को छोडकर ज्ञायकभाव का ही विचार करना चाहिए। साधना मार्ग में एक ऐसी अपूर्व स्थिति आती है, जब जीव समस्त पर एवं पर के विकल्प को अप्रयोजनभूत एवं ज्ञायकभाव को ही प्रयोजनभूत जानता है।

ज्ञायकभाव को छोडकर जगत के किसी भी परपदार्थो को महत्व नहीं देना चाहिए। यहाँ तक कि ज्ञायक की उपलब्धि का विकल्प भी ज्ञायक से महान नहीं है, क्योंकि वह विकल्प क्षणिक है और ज्ञायक नित्य है। ज्ञायक की अनुभूति का विकल्प जन्म-मरण करता है, परन्तु ज्ञायकभाव नित्य है, ध्रुव है। मैं नित्य ज्ञायक ही हूँ, मैं नित्य ज्ञायक ही हूँ। वर्तमान अवस्था में ऐसे ही संस्कार द्रढ करने चाहिए।

अज्ञानी को शरीर में प्रतिकूलता आते ही आकुलता उत्पन्न होने लगती है, क्योंकि जिस ज्ञायक के आश्रय से आकुलता रहित शुद्ध रह सकते हैं, अज्ञानी को इस ज्ञायकभाव आश्रय ही नहीं है। ज्ञायक का आश्रय होने से शरीर कट जाने पर भी ज्ञानी तो मात्र जानते-देखते रहते हैं। **ज्ञायक का आश्रय लिये बिना जगत की किसी भी घटना का ज्ञाता-द्रष्टा रहना सम्भव नहीं है।**

आत्मज्ञान रहित व्रत-तपश्चरणादि करके भी जीव दु:खी होता है क्योंकि शरीर में होने वाला वेदन सहन नहीं होता। आत्मा की अनुभूति के बल के बिना शरीर की पीडा में जो एकत्वबुद्धि है, वही दु:ख का ही कारण होती है। **ज्ञानी शरीर की पीडा को सहन नहीं करते, बल्कि सहजरुप से जान लेते है। सहन करने में कर्तापना है और सहज जानने में ज्ञातापना हैं। सहन करना अधर्म है और सहज जानना धर्म है। सहज चिदानन्द स्वभावी भगवान की एकत्वपूर्वक अनुभूति ही वास्तविक धर्म**

है। ज्ञानी का जीवन आत्मानुभूतिमय होता है।

ज्ञानी को ज्ञायक में एकत्व होने से मैं ज्ञायक ही हूँ, ऐसे श्रद्धान के बल पर शरीरादि समस्त परद्रव्य की क्रिया असर नहीं करती। शरीर क्षीण होने पर भी ज्ञानी स्वयं को नित्य सुरक्षित शुद्धात्मा ही मानते हैं। वे अनुभूवपूर्वक मानते हैं कि ज्ञायकभाव से महान इस जगत में कुछ भी नहीं है।

परपदार्थो में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि इन चारों प्रकार की बुद्धि में अटकना नहीं चाहिए ऐसा जानने वाला जीव भी परपदार्थो को जानने में अटक जाता है। यह शरीर मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा नहीं है, इस शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ, इस शरीर का भोक्ता मैं नहीं हूँ। इतना जानने के बाद भी अज्ञानी शरीर को जानने में ही, पर को जानने में अटक जाता है। **पर को जानता हूँ, ऐसा मानकर अज्ञानी पर में ही जाना चाहता है। सच तो यह है कि वह पर में रुचिपूर्वक, उपयोग को भ्रमित करता है। अतः साधक को इस बात पर खास ध्यान देना चाहिए कि पर को जानने से पहले जानने वाले को जान लेना अनिवार्य है।**

यहाँ कोई कहे कि ज्ञानी भी पर को जानते हैं। पर को जानने के लक्ष्य से ज्ञानी पर को नहीं जानते। ज्ञानी का लक्ष्य तो आत्मानुभूति ही है। ऐसा कहा जाता है कि पुरुषार्थ की कमजोरी से ज्ञानी का उपयोग पर को जानने में जाता है। **ज्ञानी के पुरुषार्थ की कमजोरी हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। कमजोर व्यक्ति की द्रष्टि कमजोरी पर ही जाती है, जबकि पुरुषार्थी जीव को ज्ञानी का पुरुषार्थ ही द्रष्टि में आता है। साधक जीव को याद रखना चाहिए कि पर को जानना मेरा लक्ष्य नहीं है।**

सम्यग्द्रष्टी जीव को भोग भोगने पर भी कर्मो की निर्जरा होती है। ऐसा जानकर विषय भोगो में नहीं प्रवर्तना चाहिए बल्कि ऐसा जानना चाहिए कि ज्ञानी को विषय भोगो के काल में भी परिणति की निर्मलता के बल पर कर्मो की निर्जरा होती है। परिणति की निर्मलता का आधार त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक ही है। **अतः ज्ञायक का आश्रय लेना ही कर्मो की निर्जरा का मूल कारण है।**

३५. चिन्तन करते-करते अनुभव हो गया

त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति से पूर्व भगवान आत्मा के चिन्तन का स्वरुप जानना अति आवश्यक है। क्योंकि वह आत्म तत्त्वविचाररुप चिन्तन ही अनुभूतिरुप परिणमित हो जाता है। **जो जीव तत्त्वविचार के काल में उत्पन्न होने वाले शुभ विकल्पों से संतुष्ट नहीं होता, उन विकल्पों को भी अपना स्वरुप नहीं मानता, वह जीव उन विकल्पों से भी छूटकर आत्मा परम शुद्ध निर्विकल्प अनुभूति को प्राप्त होता है।**

तत्त्वविचार करते समय यह बात अवश्य याद रखनी चाहिए कि भाव से भीगकर किया हुआ तत्त्वविचार ही आत्मा की निर्विकल्प अनुभूति तक पहुँचाता है, अतः वचन मात्र से रटण ही न करते हुए स्वरुप के समीप जाकर भाव की स्पर्शना करनी चाहिए। भाव से भीगकर अनुभव करने का अर्थ यह है कि अनादि काल से मैंने अनन्त जन्म-मरण करके, विशेष तो विकल्पों का परिभ्रमण करके अनन्त दुःख भोगे हैं, अब निज स्वरुप की अनुभूति से उन दुःखो से मुक्त होने का सुअवसर आया है ऐसा विचार करके अंतर की भावना से आत्मा से स्वरुप का विचार करना चाहिए।

जब चिन्तन अनुभूति में परिणमित हो जाता है तब अनादि काल से जिसकी एक क्षण के लिए भी अनुभूति नहीं हुई थी ऐसे भगवान आत्मा का शुद्ध स्वरुप अनुभव में आता है। **भगवान आत्मा का चिन्तन करते-करते जगत के क्षणिक पदार्थ द्रष्टिअगोचर होने लगते हैं, ज्ञान में से विस्मृत होने लगते हैं।** ज्ञायक की जागृति बढते-बढते क्षणिक जगत से उपयोग हटकर अपने स्वरुप के विचार में ही स्थिर होने लगता है। ज्ञान की शुद्ध पर्याय द्रव्य स्वभाव का आश्रय लेती है, तब पर्याय और द्रव्य अभेद होते हैं, विकल्प से मुक्ति होती है, एक मात्र अनुभव ही रह जाता है। **आत्मा के शुद्ध निर्विकल्प अनुभवरुप परिणत आत्मा ही अनुभव है।**

मैं भगवान आत्मा सत्ता स्वरुप द्रव्य हूँ। अनादिकाल से सत् हूँ और

अनन्तकाल तक सत्ता स्वरुप रहने वाला हूँ। अनादि-अनन्त नित्य मेरा अस्तित्व है, अनादि-अनन्त नित्य जानना-जानना मेरा कार्य है। मैं भगवान आत्मा जानने वाला ही हूँ, मैं भगवान आत्मा जानने वाला ही हूँ.....। जानने-जाननेरुप परिणमित होने पर भी जानपने में स्थित रहने वाला ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा मैं ही हूँ। जानपने के अतिरिक्त रागादि भावरुप विकल्पादि में मेरा अस्तित्व है ही नहीं।

मैं यह निर्णय करता हूँ कि जाननेरुप पर्याय प्रतिसमय जिस द्रव्य में से उत्पन्न होती है और जिस द्रव्य में मिलती है, पुनः जाननेरुप पर्याय जिस द्रव्य में से उत्पन्न होती है और जिस द्रव्य में मिलती है, ऐसा जानने वाला भगवान आत्मा है, वह भगवान आत्मा मैं ही हूँ।

मैं स्वयं परिपूर्ण हूँ। मुझ में किसी भी प्रकार का अधूरापन नहीं है। परिपूर्णता के कारण मुझे किसी भी पर पदार्थ की अपेक्षा नहीं है। शरीरादि जड पदार्थ तो पर है, साथ ही पर पदार्थ के विकल्प भी मुझ से भिन्न पर है, वे विकल्प मुझ से अतिदूर है। मैं त्रिकाली ध्रुव भगवान मात्र जाननेरुप परिणमित हो रहा हूँ। मैं भगवान आत्मा देह के योग में रहकर भी देहमय नहीं हुआ हूँ। सत्य तो यह है कि मैं देह में रहकर भी देह में नहीं रहता हूँ। मैं अनादि-अनन्त अपने जानपने में ही रहने वाला हूँ। मैं भगवान आत्मा अपने जानपने को छोडकर, पौदगलिक देह में रहने कैसे जा सकता हूँ? इसप्रकार मैं भगवान आत्मा रागादि भाव के साथ रहकर भी रागादि भावमय नहीं हुआ।

सत्य तो यह है कि पर्याय में रागादि भाव होने पर भी वे परभाव मेरे स्वभाव में मिले नहीं हैं। आत्मा में जानपने के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। **अनादि काल से अनन्त काल तक एक समय के लिये भी जिसने अपना जानपना छोडा नहीं है, वह ज्ञायक मैं ही हूँ।**

यह जागृति तो निरंतर रहनी चाहिए कि जानपने के अतिरिक्त मेरा कोई कार्य नहीं है। किसी भी प्रकार के संयोग-वियोग भगवान आत्मा को नहीं है, क्योंकि जो जानने वाला ध्रुव भगवान आत्मा है, वह भगवान आत्मा निरंतर स्वयं अपने ज्ञान ही अनुभव कर रहा है। संयोग और वियोग

का अनुभव करने वाला भगवान आत्मा नहीं है। जो संयोग और वियोग का अनुभव करने वाला नहीं है, उसके लिए जगत में कोई संयोग और वियोग भी नहीं है। भगवान आत्मा तो मात्र जाननेरुप कार्य करता है। **अतः उस त्रिकाल जागृत जानपने पर द्रष्टि करो। उस पर द्रष्टि करते ही संयोग और वियोग सहज द्रष्टि अगोचर हो जायेंगे।**

मैं अनादि-अनन्त एकरुप हूँ। जानने-जाननेरुप अनेक अवस्थाओं में व्याप्त होने पर भी मैं अपने एकपने को छोडता नहीं हूँ। **मैं भगवान आत्मा देहप्रमाण होने पर भी मैं तो ज्ञानप्रमाण हूँ।** ये जो ज्ञान का वेदन हो रहा है, जानपने का वेदन हो रहा है, वही मेरा असली स्वरुप है। उस जानपने के बाहर मैं कहीं भी नहीं हूँ। वह जानपना मेरा स्वभाव है, जानपना नित्य प्रकट है, जानपना स्वाधीन है, जानपनेरुप ही मैं हूँ, इस संस्कार के अभाव के कारण, परपदार्थ में एकत्व करके मैंने अपराध किया है, अब इस बात की जागृति रहे कि किसी भी परपदार्थ में एकत्व करने के काल में अपने जानपनेरुप स्वभाव को नहीं छोडने वाला भगवान मैं ही हूँ।

असंख्यात प्रदेशों में व्याप्त होने पर भी मैं एक हूँ। अनन्त गुणों का स्वामी होने पर भी मैं एक हूँ। एक मात्र ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई भी कार्य करने वाला मैं नहीं हूँ, अतः मैं स्वयं ज्ञाता-द्रष्टा स्वरुप परमात्मा हूँ, मैं स्वयं भगवान हूँ। मैं तीन लोक का नाथ परमात्मा हूँ।

रागादि भावरुप मैल मेरे में नहीं है, जानने मात्र परिणमित होने वाले भगवान आत्मा को क्रोधादि कषाय भाव तो स्पर्श भी नहीं करते। क्रोधादि भाव, क्रोधाकि भाव में है और ज्ञान स्वभाव, ज्ञान स्वभाव में है। मैं ज्ञान स्वभावी भगवान आत्मा हूँ, ऐसी जागृति निरंतर बनी रहे। प्रत्येक पर्याय में जो वेदन हो रहा है, जानपने का ही वेदन है।

किसी भी पदार्थ जानने के काल में मुझे जो जानने में आ रहा है, वह मेरा ज्ञान ही है, मुझे मेरे ज्ञान की ही अनुभूति हो रही है, मेरा ज्ञान भी क्यों? वह ज्ञान ही मैं हूँ। ये जो शब्द का ज्ञान हो रहा है, वह भी ज्ञान का ही ज्ञान है, वह ज्ञान ही तो है। क्योंकि शब्द अपने जडत्व छोडकर ज्ञानरुप परिणमित नहीं होते हैं और ज्ञान अपने चेतनत्व को छोडकर शब्दरुप

परिणमित नहीं होता है। **ज्ञान मात्र ज्ञानरुप ही परिणमित होता है, मैं ज्ञान स्वभावी हूँ, मैं ज्ञान स्वभावी हूँ, ऐसा चिन्तन निरन्तर होता रहे।**

मैं रागादि भाव से भिन्न भगवान आत्मा हूँ, इन विकल्पों से भी भगवान आत्मा त्रिकाल भिन्न है। रागादि भाव जिसमें जानने में आते हैं, वह भगवान आत्मा मैं हूँ, इन विकल्पों से भी भगवान आत्मा त्रिकाल भिन्न है। भगवान आत्मा तो समस्त विकल्पों से भिन्न स्वयं निर्विकल्प स्वरुप है। रागादि विकल्प से प्रभावित न होकर, मैं स्वभाव में स्थिर रहकर अपने स्वरुप का ही अनुभव होता रहे।

मैं भगवान आत्मा जानने वाला, जानने वाला, जानने वाला,..... इस प्रकार चिन्तन करके प्रत्येक पर्याय में ज्ञान का एकत्वरुप अनुभव करुं। अब मैं अपने शुद्ध स्वरुप में स्थिर होता हूँ, अब मैं अपने ज्ञायक स्वरुप में स्थिर होता हूँ, अब अनन्तकाल तक मैं ज्ञायक स्वरुप में स्थिर होता हूँ, ऐसा द्रढ निर्णय एवं निश्चय करके जगत से द्रष्टि हटाकर एक ज्ञायक ध्रुव भगवान आत्मा के चिन्तन में ही स्थिर रहूं।

मैं त्रिकाल सत्ता स्वरुप हूँ, त्रिकाली स्वरुप में उपयोग स्थित रहे, त्रिकाली स्वरुप में ही एकत्व रहे। क्योंकि मैं तो जो हूँ, वही हूँ। सम्यग्दर्शन, केवलज्ञान या मोक्ष प्रकट हो या न हो, मैं तो जानने वाला त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ। द्रष्टि का जोर इतना द्रढ होना चाहिए कि द्रव्य ही ग्रहण हो, पर्याय से द्रष्टि हटकर निज द्रव्य स्वभाव पर द्रष्टि स्थिर होना ही आत्मसाधना है।

ज्ञान स्वभावी द्रव्य है, वही मैं हूँ, द्रव्य है, वही मैं हूँ, द्रव्य है, वही मैं हूँ, ऐसा ज्ञान स्वभावी भगवान आत्म द्रव्य ही मैं हूँ। ऐसा विकल्प जो पर्याय में उत्पन्न हुआ है, वह भी मेरा स्वरुप नहीं है, वह विकल्प भी मैं नहीं हूँ।

मैं बैठा नहीं हूँ, मैं खडा नहीं हूँ, मैं बोलता नहीं हूँ, मैं चलता नहीं हूँ, क्योंकि मैं त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा तो मात्र जानता हूँ। मैं ही ज्ञाता हूँ और मैं ही ज्ञेय हूँ, प्रत्येक प्रदेश पर जो ज्ञान का वेदन हो रहा है, वह मेरा ही वेदन हो रहा है, प्रत्येक प्रदेश पर जो ज्ञान की संवेदना, ज्ञान की संचेतना हो रही है, वही मैं हूँ. उस चेतन लक्षण में किसी भी परद्रव्य का

प्रवेश नहीं है। मुझ में किसी भी पर का प्रवेश नहीं है। मैं भगवान आत्मा, मैं त्रिकाली, मैं अनादि-अनन्त, मैं शुद्ध हूँ।

स्वभाव का चिन्तन करते-करते यह भी लक्ष्य में नहीं आता है कि मैं भगवान आत्मा आकाश के किस प्रदेश पर स्थित हूँ? किस अवस्था में स्थित हूँ? यह विचार भी नहीं होता कि मैं स्त्री हूँ या मैं पुरुष हूँ? यह विचार भी नहीं होता कि मैं पंचेन्द्रिय हूँ या पंचेन्द्रिय नहीं हूँ? मैं संज्ञी हूँ या मैं असंज्ञी हूँ? मैं बैठा हूँ या मैं खडा हूँ?

जो जीव ऐसा मानकर आत्म स्वरुप का चिन्तन करता है कि मैं चिन्तन करने के लिए बैठा हूँ, वह जीव निश्चितरुप से माता के गर्भ में उलटा लटकेगा। क्योंकि जो जीव शरीर की वर्तमान बैठी हुई अवस्था में एकत्व करता है और शरीर के कारण अपने को बैठा हुआ मानता है, वह जीव माता के गर्भ में प्राप्त शरीर में भी एकत्व ही करेगा। जिसप्रकार गुड बैठता नहीं है, गुड खडा नहीं होता है। वह तो बस मीठेपने से युक्त होकर सत्तास्वरुप रहता है, उसप्रकार आत्मा उठने-बैठने वाला नहीं है, बल्कि ज्ञायक भाव स्वरुप नित्य विद्यमान है।

मैं भगवान आत्मा शरीर की उपरोक्त समस्त क्रियाओं के भेदों से भिन्न ज्ञायक मात्र हूँ। मेरे अनन्त वैभव को, अनन्त शक्ति को कभी-भी कोई भी परद्रव्य प्रभावित नहीं करता। ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुणों के वैभव को कोई लूंट नहीं सकता। मैं अनादि-अनन्त स्वयं सुरक्षित भगवान आत्मा हूँ। इस देह के परमाणु वन के प्राणी द्वारा बिखर जाये तो भी मैं बिखरने वाला नहीं हूँ। मैं तो अखन्ड, अभेद, नित्य, एक भगवान आत्मा हूँ। मैं मात्र जानने वाला-जानने वाला ही हूँ। मैं अपने जानपने को छोडकर किसी भी परद्रव्य में प्रवेश नहीं करता और न ही कर सकता।

मैं स्वयं परिपूर्ण तत्त्व हूँ, अतः किसी भी परद्रव्य के सामने मुझे हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञानरुप अनन्त सामर्थ्य एवं सुखरुप अनन्त वैभव का स्वामी भगवान आत्मा मैं हूँ। मुझे किसी भी परद्रव्य से कोई अपेक्षा नहीं है, कोई मुझ में किसी भी प्रकार की अपूर्णता है ही नहीं। मेरी परिपूर्णता का कारण मैं स्वयं हूँ।

मैं लोकाकाश के इस प्रदेश पर रहूँ या लोकाकाश के अन्य किसी भी प्रदेश पर रहूँ, मैं उर्ध्वलोक में रहूँ, मध्यलोक में रहूँ या अधोलोक में रहूँ, मैं तो मात्र जानने-देखने वाला भगवान नित्य अपने चैतन्यलोक में ही स्थित हूँ। मैं किसी भी देह में रहूँ या देह रहित सिद्ध अवस्था प्राप्त करुं, परन्तु सत्य तो यह है कि मैं तो त्रिकाल ज्ञानशरीरी भगवान आत्मा हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। जिसका जन्म नहीं हुआ और मरण नहीं होगा ऐसा चेतनपने से भरपूर भगवान आत्मा मैं ही हूँ। जब देह का संयोग हुआ था, तब संयोग को जानने वाला भगवान आत्मा मैं ही हूँ और जब देह का वियोग होगा, तब वियोग को जानने वाला भगवान आत्मा मैं ही हूँ। मैं जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ, मैं जानने वाला हूँ,..।

इन्द्रियों से अद्रश्य होने पर भी ज्ञान से द्रश्य भगवान आत्मा ही द्रष्टि में बना रहे, भगवान आत्मा ही द्रष्टि में बना रहे,.. क्योंकि वह भगवान आत्मा ही मैं हूँ। इन्द्रियों से द्रश्यमान पुदगल पदार्थ ज्ञान में से अद्रश्य हो जायें अर्थात् उन पुदगल पदार्थो से द्रष्टि हटकर एक ज्ञायक पर ही स्थिर हो जायें। प्रतिसमय शुद्ध स्वरुप की जागृति रहे। **एक पल के लिए भी परद्रव्य में परिवर्तन करने का विकल्प न हो। एक पल के लिए भी परद्रव्य की सत्ता का भी विकल्प न हो। एक पल के लिए भी रागादि भाव की सत्ता का विकल्प न हो। मैं जानने वाला भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वभाव में स्थित रहूँ।**

देह को छोडकर जाने वाला आत्मा अपने को छोडकर नहीं जाता, देह को छोडकर भी आत्मा अपने जानपने को छोडकर कहीं नहीं जाता, इसलिए देह को छोडने में अपना कुछ भी नहीं छूटता है। जो अनादि-अनन्त छूटा है, उस देह से मेरा क्या प्रयोजन है? मैं तो नित्य ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा हूँ। मेरे ज्ञान स्वभाव को किसी भी परज्ञेय की अपेक्षा नहीं है। मै तो पर से निरपेक्ष तत्त्व हूँ।

जैसे किसी घर में खिडकी से हवा ने प्रवेश किया और थोडी देर बाद वह हवा घर में से बाहर चली गई, मैंने उसे दूर से जाना, उस हवा के आने-जाने में मेरा कुछ भी नहीं है। किसी घर में हवा जाये और हवा बाहर आये इससे मुझे क्या? यह देह भी परघर है, श्वासोच्छवास रुप हवा

देहरुपी घर में जाये और बाहर भी आये, इससे मेरा क्या प्रयोजन है? वह हवा मुझ में आती नहीं और मुझ से जाती नही। जब घर ही मेरा नहीं है, तब घर में आने वाले मेहमान भी मेरे नहीं हैं, मैं तो जानने-देखने वाला भगवान आत्मा ही हूँ।

ये जो वेदन हो रहा है, ये जो सामान्य ज्ञान है, वह सामान्य ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान,..... मात्र मैं हूँ। इस ज्ञान के बाहर कहीं भी मैं नहीं हूँ। यह जो ज्ञान की अनुभूति हो रही है, वह मेरी ही अनुभूति हो रही है। ज्ञान की अनुभूति है, वही आत्मा की अनुभूति है। **ज्ञान की अनुभूति है, वही ज्ञायक की अनुभूति है। ज्ञान मात्र की अनुभूति ज्ञायक की अनुभूति है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। मैं ही ज्ञायक हूँ। इसी का नाम ज्ञान से ज्ञायक तक पहुँचना है। ज्ञान की अनुभूति में ज्ञानादि अनन्त गुणों की एकतारुप अभेद ज्ञायक की अनुभूति होती है।**

अनादि से आजतक मुझे पर की नहीं, बल्कि स्वयं की अनुभूति ही हुई है, स्वयं की अनुभूति हो रही है और स्वयं अनुभूति होती रहेगी। अनुभूति तो अनुभूति है, उसे तीनों काल में भी विभाजित कैसे किया जा सकता है? **अनुभूति तो त्रिकाल एकरुप ही होती है। ज्ञान की अनुभूति ही ज्ञायक की अनुभूति है। यह अनुभूति ही अपनी परिपूर्णता का लक्षण है। अपनी ज्ञान सत्ता को छोडकर आत्मा कहीं भी नहीं जा सकता। मैं निरंतर अपना ही वेदन, अपना ही संवेदन करता हूँ, यह जो अपना संवेदन हो रहा है,..... वही मैं ही हूँ।**

सुख स्वरुपी भगवान आत्मा त्रिकाल निराकुल है, अकषायी है, शुद्ध है, वह स्वरुप ही पर्याय में प्रकट होता है। देह की शक्ति कम हो सकती है, परन्तु मेरी अनन्त शक्ति का देह की शक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं तो त्रिकाल अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि अनन्त, अनन्त, अनन्त, अनन्त,..... वैभवशाली गुणों का घनपिण्ड भगवान आत्मा हूँ। निरंतर शांति का ही अनुभव हो, निरंतर सुख का ही अनुभव हो। ऐसे अनन्त गुणों का स्वामी निज भगवान आत्मा ही निरंतर अनुभव में आता रहे।

३६. जो मौन हैं, वे ही मुनि हैं

आत्मा के त्रिकालीपने की अनुभूति निरंतर हो रही है, वह मेरी ही अनुभूति है, वह अनुभूति ही मैं हूँ। ज्ञायक की अनुभूति होते ही साधक-साधन-साध्य सम्बन्धी विकल्प अस्त हो जाते हैं, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी विकल्प उदित नहीं होते, द्रव्य एवं पर्याय सम्बन्धी भेद भी कहाँ चला जाता है? वह मुझे मालूम नहीं है। अभेद पर्याय का अभेद द्रव्य के साथ अभेदमय हो जाना ही आध्यात्मिक साधना है।

ज्ञायक की अनुभूति के बाद ज्ञानी ज्ञायक की अनुभूति मात्र से संतुष्ट नहीं हो जाते। ज्ञानी तो निरंतर मुनिधर्म अंगीकार करने की भावना भाते हैं। मुनिधर्म की साधना में भी ज्ञानी का लक्ष्य तो अनुभूति के बल पर शुद्धि की वृद्धि हो, यही है।

ज्ञायक की अनुभूति होने के काल में वचन के अभावरुप मौन तो होता है, साथ ही विकल्प के अभावरुप मौन हुए बिना निर्विकल्प आत्मानुभूति नहीं होती। जिन्होंने मौन धारण किया हो, वे बोलते तो नहीं, मगर कागज पर लिखकर या काया से इशारा करके अपने विकल्पों की अभिव्यक्ति करते हैं, वे भी सच्चे मौनी नहीं हैं। सिद्ध भगवान को वचन सम्बन्धी मौन है, तो निगोद के जीवों को भी वचन सम्बन्धी मौन ही है। दोनों जीवों को वचन नहीं है। परन्तु निगोद के जीव का विकल्पों से मौन नहीं हुआ है, जबकि सिद्ध परमात्मा देह से भिन्न ज्ञायक में ऐसे स्थिर हुए हैं कि देह ही नहीं रहा। **देहातीत एवं वचनातीत सिद्ध परमात्मा ही सच्चे मौनी है। ज्ञायक का आश्रय लेने पर सहज ही विकल्प से निवृत्ति हो जाती है, तब विकल्प की अभिव्यक्ति का प्रश्न ही खडा नहीं होता।**

आत्मानुभूति को व्यक्त करने की रुचि भी पौद्‌गलिक भोगों की आकुलतामय रुचि के समान आत्मा की अहितकर ही है। जिसे आत्मानुभूति

प्रकट होती है, वह गली-गली में जाकर नहीं कहता है कि मुझे आत्मा की प्राप्ति हुई। वह जीव अपने में समा जाता है। अज्ञानीजनों के सामने यह बताने से क्या लाभ है कि मुझे आत्मज्ञान हो गया है? और ज्ञानीजनों के सामने यह बताना ही नहीं पडता कि मुझे आत्मज्ञान हुआ है। ज्ञानी तो बिना बताये भी जान लेते हैं कि कौन ज्ञानी है और कौन अज्ञानी है?

अपने वैभव का प्रचार करना कौन चाहेगा? क्या आप अपना बैंक बेलेन्स अखबार में छपवाना चाहते हैं? क्या आप चाहते हैं कि सभी लोगों को आपका बैंक बेलेन्स पता चले? आप जानते हैं कि अपने वैभव का प्रदर्शन करना योग्य नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी को आत्मानुभूति का सुख ही ऐसा प्रकट हुआ है कि उसे बाह्य में व्यक्त करने का कोई प्रयोजन भासित नहीं होता। ज्ञायक में वचन होते नहीं, अतः ज्ञायक की उपलब्धि जिसे होती है, ऐसे ज्ञानी भी वचनातीत हो जाते हैं, मौन हो जाते हैं। याद रहे कि **आत्मसाधना के साधक जीव का लक्ष्य सम्यग्दर्शन होता है, मिथ्या प्रदर्शन नहीं।**

मैं भगवान आत्मा वचन एवं विकल्पों से रहित हूँ। इतना ही नहीं, बल्कि जगत के सभी जीवों का स्वरुप ऐसा ही है, ऐसी द्रढ प्रतीति होना ही सच्चा मौन है। **मौन के धारक मुनि बोलते तो नहीं हैं, साथ ही सुनते भी नहीं हैं।** जिसप्रकार सुमेरु पर्वत के परमाणु का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसीप्रकार भाषावर्गणा के परमाणु के साथ भी आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने शब्दों से ही नहीं, दूसरे के शब्दों से भी जिसका सम्बन्ध छूट गया है, वे ही मौनी हैं। अरे भाई! **अपने शब्द और दूसरों के शब्द, ऐसा भी जहाँ भेद नहीं रहता, शब्द मात्र से जिसका सम्बन्ध छूट गया है, ऐसे मौन के धारक मुनि ही ज्ञायक को उपलब्ध हुए हैं।**

सभी ज्ञानवान भगवान आत्मा, ज्ञान स्वभाव साधन से देहातीत, वचनातीत एवं विकल्पातीत जिसका स्वरुप है, ऐसे ज्ञायक तक पहुँचे। ज्ञान की प्रत्येक पर्याय ज्ञायक का ही वेदन करती रहें एवं सुख की प्रत्येक पर्याय आनन्दामृत का रसपान करती रहें, यही मंगल भावना।

मुखपृष्ठ परिचय

यद्यपि ज्ञान एवं ज्ञायक भिन्न-भिन्न नहीं है, फिर भी सामान्य, अखण्ड, एक, अभेद ज्ञायक को समजाने के लिए गुण एवं गुणी का भेद किया गया है। चित्र में चित्रित गोलाकार ज्ञायक की परिपूर्णता का सूचक है। परिपूर्ण ज्ञायक में से ज्ञान के अंश को गोलाकार के नीचे अलग करके बताया है। आशय यह है कि भेद से ही अभेद तक पहुंचने की यात्रा सफल होती है।

चित्रित गोलाकार में भी परमात्मा है और गोलाकार के नीचे गोलाकार के अंश में भी परमात्मा है अर्थात आत्मा तो परमात्मा है ही, साथ-साथ आत्मा का प्रत्येक अंश भी परमात्मा ही है। गोलाकार में दर्शित दीपक की ज्योति इस बात की ओर ध्यान आकर्षित कराती है कि प्रत्येक आत्मा में ज्ञानज्योति सदैव दैदीप्यमान है, परन्तु जब वह ज्ञानज्योति पर्याय में व्यक्त होती है, तब ज्ञान से ज्ञायक का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

ज्ञान से ज्ञायक तक शीर्षक के आगे-पीछे अर्धगोलाकार चित्र इस बात को दर्शाता है कि इस कृति के अध्ययन से पर्याय एवं द्रव्य का भेद समाप्त हो सकता है अर्थात द्रव्य एवं पर्याय अभेद हो सकते हैं। निर्विकल्प आत्मानुभूति तक पहुंचने हेतु ज्ञान से ज्ञायक तक पुस्तक सेतु समान है।

पुस्तक की पीठ के अध:भाग पर स्थित छैनी-हथौडी एवं साधक का चित्र इस भाव को व्यक्त करता है कि आत्मा एवं अनात्मा (रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म एवं शरीरादि नोकर्म) का भेद ज्ञानरुपी छैनी (प्रज्ञाछैनी) के माध्यम से किया जा सकता है अर्थात जाना जा सकता है। ज्ञान से ज्ञायक तक पहुंचने के पश्चात ज्ञानी को निरंतर भेदज्ञान की धारा सहज ही बहती है।

पण्डित फूलचन्द शास्त्री द्वारा लिखित
महत्वपूर्ण कृतियां

- आत्मसिद्धि अनुशीलन (गुजराती)
- महावीर नो वारसदार कोण? (गुजराती)
- क्षणिक नो बोध अने नित्य नो अनुभव (गुजराती)
- आतंकवाद मां अनेकांतवाद (गुजराती)
- मरण नुं हरण (गुजराती)
- मने न मारो (गुजराती)
- ज्ञान थी ज्ञायक सुधी (गुजराती)
- पुण्यविराम (गुजराती, हिन्दी)
- ज्ञायकभाव प्रकाशक-समयसार टीका (गुजराती, अंग्रेजी)
- क्षणिक का बोध और नित्य का अनुभव (हिन्दी)
- मरण का हरण (हिन्दी)
- महावीर का वारिस कौन? (हिन्दी)
- आतंकवाद में अनेकांतवाद (हिन्दी)
- मुझे मत मारो (हिन्दी)
- छहढाला (षटपद विवेचन)
- गुणाधिपति आत्मा
- अंक अंकित अध्यात्म
- Tree of Jainism Theory (English)
- Who is Lord Mahavir's Successor? (English)
- Self Realization - A Deep Study (English)
- End of Auspicious Karma (English)
- Don't Kill Me (English)
- Multiple viewpoints on terrorism
- Wisdom of the Transient and Realization of the Eternal (English)
- Jangan Bunuh Saya (Indonesian)

पण्डित फूलचन्द शास्त्री वर्तमान में जैन एवं जैनेत्तर समाज में सुप्रसिद्ध तार्किक विद्वान, दार्शनिक, लेखक, प्रवचनकार एवं भाषाशास्त्री हैं। आप गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, इन्डोनेशियन, बताक, मलय, जापनीझ, चाईनीझ, मेंडेरीन, थाइ, तागालोग, फिलिपिनो आदि अनेक भाषाओं के विशेषज्ञ हैं।

आपने देश सहित अनेकबार विदेश यात्राएं करके विश्व की विविध भाषाओं में २५००० से भी अधिक प्रवचनों एवं पुस्तकों के माध्यम से वीतरागी भगवान द्वारा प्ररुपित तत्त्वज्ञान का प्रचार-प्रसार किया हैं। आपके ओडिओ-विडिओ प्रवचन एवं पुस्तकें www.fulchandshastri.com पर उपलब्ध हैं। आपके प्रवचनों एवं पुस्तकों से प्रेरित होकर लगभग ४० देशों में १८०० से भी अधिक विदेशियों ने शाकाहार में परिवर्तन किया हैं।

पण्डित फूलचन्द शास्त्री का जन्म पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी की जन्मभूमि उमराला (गुजरात) में शनिवार, २५ जुलाई, १९८१ के शुभदिन एक धार्मिक परिवार में हुआ था। आध्यात्मिक युगपुरुष परम पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अनन्य शिष्यरत्न डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, आपके विद्यागुरु हैं।

आप आध्यात्मिक साधना केन्द्र, उमराला के संस्थापक एवं फूलचन्द शास्त्री एज्युकेशनल एण्ड चैरिटेबल ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं।

MULTY GRAPHICS
(022) 23873222 • 23884222